Chapter बाईस

भौतिक सृष्टि के तत्त्वों की गणना

इस अध्याय में प्राकृतिक तत्त्वों की गणना एवं उनका वर्गीकरण किया गया है, पुरुष तथा स्त्री प्रकृति का अन्तर बतलाया गया है और जन्म-मृत्यु का वर्णन किया गया है।

भौतिक तत्त्वों के विषय में अनेक मत हैं। किन्तु यह मतान्तर जो कि माया के प्रभाव से है, तर्कहीन नहीं है। प्रकृति के सारे तत्त्व सर्वत्र विद्यमान हैं; अतएव जिन विद्वानों ने भगवान् की मायाशक्ति को स्वीकार किया है, वे अनेक प्रकार के सिद्धान्त प्रस्तावित कर सकते हैं। उनके पारस्परिक विरोधी तर्कों का मूल कारण ईश्वर की दुर्लंघ्य माया है।

परम भोक्ता तथा परम नियन्ता में कोई भेद नहीं है। उनमें किसी अन्तर की पूर्वकल्पना व्यर्थ है। सामान्य ज्ञान भौतिक प्रकृति का केवल गुण है, आत्मा का नहीं है। भौतिक प्रकृति के कच्चे माल को उसकी विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार अभिहित किया जाता है। सतोगुण में इसे ज्ञान कहते हैं, रजोगुण में क्रिया और तमोगुण में अज्ञान कहते हैं। भगवान् का दूसरा नाम काल है और भौतिक लिप्सा का अन्य नाम *सूत्र* या *महत्-तत्त्व* है। प्रकृति के पच्चीस तत्त्व हैं—भगवान्, प्रकृति, महत्, मिथ्या अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, आँखें, कान, नाक, जीभ, त्वचा, वाणी, हाथ, पाँव, जननांग, गुदा, मन, ध्वनि, स्पर्श, रूप, स्वाद तथा गंध।

अव्यक्त परम पुरुष प्रकृति पर केवल दृष्टिपात करता है। तब प्रकृति जो भगवान् के नियंत्रण में है, कारण-कार्य का रूप धारण करती है और भौतिक जगत के सृजन, पालन तथा संहार का कार्य सम्पन्न करती है। यद्यपि ऊपरी दृष्टि से *पुरुष* तथा *प्रकृति* अभिन्न लगते हैं, किन्तु उनमें अन्तर तो होता ही है। भौतिक सृष्टि प्रकृति के गुणों से उत्पन्न होती है और इसका गुण है विकार। जीव, जो कि भगवान् से शत्रुभाव रखते हैं, अपने भौतिक कार्य के माध्यम से नाना प्रकार के शरीर धारण करते और त्यागते रहते हैं। किन्तु जो लोग माया द्वारा मोहित होकर आत्मा से अनजान रहते जाते हैं, वे इसे नहीं समझते। मन

सकाम कर्म की भावना से पूरित होने के कारण इन्द्रियों को एक शरीर से दूसरे शरीर में ले जाता है और आत्मा उसी के पीछे चलता रहता है। इतने पर भी इन्द्रियतृप्ति में लीन रहने से मनुष्य अपने विगत जीवन को स्मरण नहीं रख पाता।

शरीर में नौ अवस्थाएँ होती हैं, जो प्रकृति के गुणों की संगति से आती हैं। ये हैं—गर्भाधान, गर्भवृद्धि, जन्म, बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, मध्यावस्था, वृद्धावस्था तथा मृत्यु। अपने पिता की मृत्यु तथा अपने पुत्र के जन्म से मनुष्य अपने शरीर के उत्थान-पतन के विषय में आसानी से समझ सकता है। आत्मा, जो कि द्रष्टा है, इस शरीर से भिन्न है। किन्तु सही तथ्यों की जानकारी न होने से, जीव इन्द्रियतृप्ति के विषयों से उलझ कर, भौतिक जगत के चक्र में अपना गन्तव्य प्राप्त करता है। इस तरह जीव भौतिक कार्य के वशीभूत होकर निरन्तर भटकता रहता है—सतोगुण की प्रधानता होने पर वह साधु या देवता के रूप में जन्म लेता है; रजोगुण की प्रधानता होने पर असुरों या मनुष्यों के रूप में और तमोगुण की प्रधानता होने पर भूतप्रेतों या पशुओं की योनि में भटकता रहता है। आत्मा कभी भी इन्द्रिय-विषयों के भोग में लिप्त नहीं होता, प्रत्युत इन्द्रियाँ ही यह कार्य करती हैं। इसलिए जीव को इन्द्रियतृप्ति के आनन्दों की कोई वास्तविक आवश्यकता नहीं पड़ती। जिन लोगों ने भगवान् के चरणकमलों की शरण ले रखी है और जो उनकी दिव्य सेवा में समर्पित रहते हैं, ऐसे शान्त पुरुषों के अतिरिक्त सारे लोग, यहाँ तक कि तथाकथित विद्वान पंडित भी सर्वशक्तिमान प्रकृति द्वारा अनिवार्य रूप से पराजित हो जाते हैं।

श्रीउद्धव उवाच

कति तत्त्वानि विश्वेश सङ्ख्यातान्यृषिभिः प्रभो ।
नवैकादश पञ्च त्रीण्यात्थ त्वमिह शुश्रुम ॥ १ ॥

केचित्षड्विंशतिं प्राहुरपरे पञ्चविंशतिं ।
सप्तैके नव षट्केचिच्चत्वार्येकादशापरे ।
केचित्सप्तदश प्राहुः षोडशैके त्रयोदश ॥ २ ॥

एतावत्त्वं हि सङ्ख्यानामृषयो यद्विवक्षया ।
गायन्ति पृथगायुष्मन्निदं नो वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; कति—कितने; तत्त्वानि—सृष्टि के मूलभूत तत्त्व; विश्व-ईश—हे ब्रह्माण्ड के स्वामी; सङ्ख्यातानि—गिनाये गये हैं; ऋषिभिः—महान् अधिकारियों द्वारा; प्रभो—हे स्वामी; नव—नौ (ईश्वर, आत्मा, महत् तत्त्व,

मिथ्या अहंकार तथा पाँच स्थूल तत्त्व); एकादश—ग्यारह (दस ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ मन); पञ्च—पाँच (पाँच इन्द्रिय-विषय); त्रीणि—तीन (सतो, रजो तथा तमोगुण इस प्रकार कुल मिलाकर अट्ठाईस); आत्थ—कहा है; त्वम्—तुमने; इह—इस जगत में आविर्भूत होकर; शुश्रुम—ऐसा मैंने सुना है; केचित्—कुछ; षट्-विंशतिम्—छब्बीस; प्राहु:—कहते हैं; अपरे—अन्य; पञ्च-विंशतिम्—पच्चीस; सप्त—सात; एके—कुछ; नव—नौ; षट्—छ:; केचित्—कुछ; चत्वारि—चार; एकादश—ग्यारह; अपरे—और दूसरे; केचित्—कुछ; सप्तदश—सत्रह; प्राहु:—कहते हैं; षोडश—सोलह; एके—कुछ; त्रयोदश—तेरह; एतावत्त्वम्—ऐसी गणनाएँ; हि—निस्सन्देह; सङ्ख्यानाम्—तत्त्वों की गणना करने की विविध विधियों के; ऋषय:—ऋषिगण; यत् विवक्षया—यह व्यक्त करने के विचार से कि कौन-से भाव; गायन्ति—उन्होंने घोषित किया है; पृथक्—विविध प्रकारों से; आयु:-मन्—हे परम शाश्वत; इदम्—यह; न:—हमसे; वक्तुम्—बताने के लिए; अर्हसि—तुम्हें चाहिए।.

उद्धव ने पूछा : हे प्रभु, हे ब्रह्माण्ड के स्वामी, ऋषियों ने सृष्टि के तत्त्वों की कितनी संख्या बतलाई है? मैंने आपके मुख से कुल अट्ठाइस का वर्णन सुना है—ईश्वर, जीवात्मा, महत तत्त्व, मिथ्या अहंकार, पाँच स्थूल तत्त्व, दस इन्द्रियाँ, मन, पाँच सूक्ष्म इन्द्रिय-विषय तथा तीन गुण। किन्तु कुछ विद्वान छब्बीस तत्त्व बतलाते हैं जबकि अन्य लोग इनकी संख्या पच्चीस या सात, नौ, छह, चार या ग्यारह और कुछ लोग सत्रह, सोलह या तेरह बतलाते हैं। जब ये ऋषि ऐसे विविध प्रकारों से सर्जक तत्त्वों की गणना कर रहे थे, तो उनके मनों में क्याथा? हे परम शाश्वत, कृपा करके मुझे यह बतलायें।

तात्पर्य : पिछले अध्याय में श्रीकृष्ण ने यह भलीभाँति समझाया है कि वैदिक ज्ञान इन्द्रियतृप्ति के लिए न होकर भौतिक बन्धन से मोक्ष के लिए होता है। अब उद्धव बीच में कुछ प्रश्न पूछ रहे हैं जिनके उत्तर मिलने ही चाहिए ताकि मोक्ष का मार्ग साफ हो जाय। ऐतिहासिक दृष्टि से विभिन्न दार्शनिकों ने भौतिक तत्त्वों की सही संख्या के बारे में, विशिष्ट बाह्य पदार्थों के होने-न होने के बारे में तथा आत्मा के अस्तित्व के बारे में असहमति व्यक्त की है। वेदों के ज्ञानकांड अनुभाग का उद्देश्य भौतिक जगत के वैश्लेषिक ज्ञान तथा दिव्य तत्त्व के रूप में आत्मा के ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त कराना है। अन्ततः परमेश्वर सभी तत्त्वों के ऊपर हैं और वे अपनी निजी शक्ति से उनको धारण करते हैं। उद्धव विभिन्न ऋषियों की कार्यप्रणालियों को संख्या के द्वारा बताते हुए सर्वप्रथम भगवान् का मत प्रस्तुत करते हैं। इस सम्बन्ध में *आयुष्मन्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। चूँकि भगवान् कृष्ण शाश्वत हैं अतएव उन्हें भूत, वर्तमान तथा भविष्य का पूरा पूरा ज्ञान रहता है और इस तरह वे आदि तथा सर्वोच्च दार्शनिक हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार उद्धव द्वारा उल्लिखित विविध वैश्लेषिक विधियाँ परस्पर विरोधी नहीं हैं क्योंकि वे एक ही सत्य के कोटि-निर्धारण की पृथक्-पृथक् विधियाँ हैं। सत्य

के नास्तिक चिन्तन में ईश्वर के अस्तित्व को कोई मान्यता नहीं दी जाती; फलत: सत्य की व्याख्या करना व्यर्थ का प्रयास होगा। भगवान् स्वयं ही विभिन्न जीवों को सत्य के बारे में भिन्न भिन्न प्रकारों से सोचने तथा बोलने की शक्ति प्रदान करते हैं। किन्तु वास्तविक सत्य तो साक्षात् भगवान् हैं, जो अब श्री उद्धव से बोलेंगे।

श्रीभगवानुवाच
युक्तं च सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा ।
मायां मदीयामुद्गृह्य वदतां किं नु दुर्घटम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; युक्तम्—युक्तियुक्त; च—भी; सन्ति—उपस्थित रहते हैं; सर्वत्र—सभी जगह; भाषन्ते—कहते हैं; ब्राह्मणा:—ब्राह्मणजन; यथा—कैसे; मायाम्—योगशक्ति; मदीयम्—मेरी; उद्गृह्य—अपनाकर; वदताम्—बोलने वाले के; किम्—क्या; नु—आखिरकार; दुर्घटम्—असम्भव होगा।

भगवान् कृष्ण ने उत्तर दिया : चूँकि सारे तत्त्व सभी जगह उपस्थित रहते हैं इसलिए यह युक्तियुक्त है कि विभिन्न विद्वान ब्राह्मणों ने उनकी व्याख्या भिन्न भिन्न विधियों से की है। ऐसे सभी दार्शनिकों ने मेरी योगशक्ति का आश्रय लेकर ही ऐसा कहा है, अतएव वे सत्य का खण्डन किये बिना कुछ भी कह सकते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *सन्ति सर्वत्र* से यह सूचित होता है कि सारे भौतिक तत्त्व एक-दूसरे के भीतर स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों में पाये जाते हैं। इसलिए असंख्य प्रकारों से उनका कोटि-निर्धारण करके वर्णन किया जा सकता है। भौतिक जगत आखिरकार मायामय है और निरन्तर रूपान्तरित होता रहता है। इसकी माप विभिन्न विधियों से की जा सकती है, जिस तरह कि मृगमरीचिका को विविध प्रकारों से बतलाया जाता है किन्तु भगवान् ने जिन अट्ठाईस तत्त्वों को बतलाया है, वे सही हैं और उन्हें स्वीकार कर लेना चाहिए। श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि इस श्लोक में *माया* शब्द *महामाया* अर्थात् अविद्याशक्ति का सूचक नहीं है अपितु भगवान् की अचिन्त्य योगशक्ति का सूचक है, जो वैदिक ज्ञान के विद्वान अनुयायियों को शरण देने वाली है। यहाँ पर जिन जिन दार्शनिकों का उल्लेख हुआ है वे सत्य के किसी विशेष पक्ष का उद्घाटन करते हैं और उनके मत विरोधी नहीं हैं क्योंकि वे एक ही घटना को कोटि-निर्धारण की विभिन्न प्रणालियों से बतला रहे हैं। भौतिक जगत में ऐसी दार्शनिक असहमति का कोई अन्त नहीं है, इसलिए सबों को भगवान् के मत के विषय में एक हो जाना चाहिए,

जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है। इसी तरह *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण सभी बद्धात्माओं से अनुरोध करते हैं कि वे विविध प्रकार की पूजाएँ छोड़ कर उनके भक्त बन कर पूर्ण कृष्णभावनामृत में उनकी शरण में आयें। इस तरह हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे के कीर्तन से सारे ब्रह्माण्ड को भगवत्प्रेम में एक किया जा सकता है। इस तरह एक निष्ठावान भक्त से अपनी बात बताकर वैश्लेषिक दर्शन के विवाद को समाप्त कर दिया गया है।

नैतदेवं यथात्थ त्वं यदहं वच्मि तत्तथा ।
एवं विवदतां हेतुं शक्तयो मे दुरत्ययाः ॥५॥

शब्दार्थ

न—नहीं है; एतत्—यह; एवम्—ऐसा; यथा—जिस तरह; आत्थ—कहते हो; त्वम्—तुम; यत्—जो; अहम्—मैं; वच्मि—कह रहा हूँ; तत्—वह; तथा—उस तरह; एवम्—इस तरह; विवदताम्—तर्क करनेवालों के लिए; हेतुम्—तर्कपूर्ण कारणों पर; शक्तयः—शक्तियाँ; मे—मेरी; दुरत्ययाः—दुर्लंघ्य।.

जब दार्शनिकजन तर्क करते हैं, ''तुम जिस तरह इस विशेष प्रसंग की व्याख्या करना चाहते हो, मैं उसे उस रूप में नहीं करना चाहता'' तो इसमें मेरी दुर्लंघ्य शक्तियाँ ही उनकी विश्लेषणान्तमक असहमतियों को प्रेरणा देती हैं।

तात्पर्य : भगवान् की भौतिक शक्तियों के कारण ही संसारी दार्शनिकजन निरन्तर यह वाद-विवाद करते रहते हैं कि मुर्गी पहले आई कि अंडा। विभिन्न दार्शनिकजन सतो, रजो तथा तमोगुणों के प्रभाव के कारण विभिन्न मतों के प्रति आकृष्ट होते हैं और भगवान् द्वारा उत्पन्न भौतिक वातावरण के प्रभाव से, ये दार्शनिक एक-दूसरे से निरन्तर असहमत रहते हैं। किन्तु स्वयं भगवान् ने स्पष्ट व्याख्या की है। *श्रीमद्भागवत* (६.४.३१) में कहा गया है—

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै

विवादसंवादभुवो भवन्ति।

कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं

तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने॥

''मैं उन सर्वव्यापक भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ जिनमें असीम दिव्य गुण पाये जाते हैं। विभिन्न मतावलम्बी दार्शनिकों के हृदयों के भीतर से कर्म करते हुए उन्होंने उन्हें उनकी आत्मा भुलवा दी जिससे वे कभी तो सहमत होते हैं और कभी असहमत। इस तरह भगवान् इस जगत में ऐसी स्थिति

उत्पन्न कर देते हैं जिसमें वे एकमत नहीं हो पाते। मैं उन्हें सादर नमस्कार करता हूँ।

यासां व्यतिकरादासीद्विकल्पो वदतां पदम् ।
प्राप्ते शमदमेऽप्येति वादस्तमनु शाम्यति ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यासाम्—जिन (मेरी शक्तियों) के; **व्यतिकरात्**—परस्पर क्रिया से; **आसीत्**—उत्पन्न हुआ है; **विकल्पः**—मतभेद; **वदताम्**—विवाद करने वालों के; **पदम्**—विवाद का विषय; **प्राप्ते**—प्राप्त कर चुकने पर; **शम**—मुझ पर अपनी बुद्धि स्थिर करने की सामर्थ्य; **दमे**—बाह्य इन्द्रियों पर नियंत्रण; **अप्येति**—(मतभेद) दूर हो जाता है; **वादः**—विवाद, तर्क; **तम् अनु**—फलस्वरूप; **शाम्यति**—शमन हो जाता है।

मेरी शक्तियों की अन्योन्य क्रिया से विभिन्न मत (वाद) उत्पन्न होते हैं। किन्तु जिन लोगों ने अपनी बुद्धि मुझ पर स्थिर कर ली है और अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया है, उनके मतभेद दूर हो जाते हैं और इस तरह तर्क (वाद-विवाद) का कारण ही मिट जाता है।

तात्पर्य : विभिन्न दार्शनिकजनों के मनों में भगवान् की भौतिक शक्तियों की अन्योन्य क्रिया से विरोधी अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं। ये दार्शनिक अपने अपने मतों का समर्थन यह कह कर करते हैं, ''यह हो सकता है अथवा कदाचित् वह हो सकता है, या यह नहीं हो सकता है अथवा कदाचित् वह नहीं हो सकता।'' ऐसे तर्कपूर्ण प्रस्ताव, संशय, विरोधी प्रस्ताव आदि हजारों रूप धारण करके वाद-विवाद का आधार बनते हैं। वस्तुतः भगवान् कृष्ण सारे जगत के आधार हैं क्योंकि सारी वस्तुएँ उन्हीं से उद्भूत हैं, उन्हीं के द्वारा पालित हैं और अन्त में भगवान् के भीतर ही लीन हो जाती हैं। कृष्ण *परतत्त्व* हैं अर्थात् समस्त परतंत्र सत्यों के मूल में पाये जाने वाले सर्वोच्च सत्य हैं। ऐसे विद्वान पुरुषों के समाज में, जिन्होंने भगवान् को सर्वस्व समझ लिया हो और कोई दार्शनिक विवाद नहीं उत्पन्न होता। ऐसा मतैक्य दार्शनिक जिज्ञासा की अनुपस्थिति या तार्किक व्याख्या पर निर्भर नहीं रहता अपितु यह आध्यात्मिक प्रकाश का सहज परिणाम होता है। तथाकथित दार्शनिक डींग मारते हैं कि वे परब्रह्म की खोज पर खोज करते जा रहे हैं किन्तु वे परब्रह्म को पा लेने वाले को उससे अल्पज्ञ मानते हैं जिसने परम सत्य को अभी नहीं पाया है परन्तु जो उसे अभी खोज रहा है। चूँकि कृष्ण परब्रह्म हैं, अतएव जो पूरी तरह उनकी शरण में जाता है, वह अत्यन्त विद्वान पुरुष बन जाता है।

परस्परानुप्रवेशात्तत्त्वानां पुरुषर्षभ ।

पौर्वापर्यप्रसङ्ख्यानं यथा वक्तुर्विवक्षितम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

परस्पर—आपस में; अनुप्रवेशात्—प्रवेश करने के कारण (सूक्ष्म कारण का स्थूल कारण में या इसके विपरीत); तत्त्वानाम्—विभिन्न तत्त्वों के; पुरुष-ऋषभ—हे पुरुष-श्रेष्ठ (उद्धव); पौर्व—पूर्व कारणों के रूप में; अपर्य—अथवा प्रतिफलों की; प्रसङ्ख्यानम्—गणना; यथा—किन्तु; वक्तुः—वक्ता; विवक्षितम्—वर्णन करने के लिए इच्छुक।.

हे पुरुष-श्रेष्ठ, चूँकि सूक्ष्म तथा स्थूल तत्त्व एक-दूसरे में प्रविष्ट हो जाते हैं, इसलिए दार्शनिकजन अपनी अपनी इच्छानुसार विभिन्न प्रकारों से मूलभूत भौतिक तत्त्वों की गणना कर सकते हैं।

तात्पर्य : भौतिक सृष्टि का जन्म शृंखला प्रतिक्रिया के रूप में घटित होता है, जिसमें सूक्ष्म तत्त्व विस्तार करके घनीभूत तत्त्वों में बदलते जाते हैं। चूँकि कारण एक तरह से कार्य में उपस्थित रहता है और इसी तरह कार्य कारण के भीतर उपस्थित रहता है, इसलिए सारे सूक्ष्म तथा स्थूल तत्त्व एक-दूसरे के भीतर प्रवेश कर गये हैं। इस तरह मूलभूत भौतिक तत्त्वों को अपने अपने तरीके से विभिन्न संख्याएँ तथा नाम प्रदान करके अनेक प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है। यद्यपि भौतिक दार्शनिकजन बड़े ही घमंड के साथ अपने अपने सिद्धान्तों को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं किन्तु वे सब अपनी अपनी मनोवृत्तियों के अनुसार अनुमान लगाते हैं जैसाकि इस श्लोक में तथा अगले श्लोक में वर्णन हुआ है।

एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानीतराणि च ।
पूर्वस्मिन्वा परस्मिन्वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वशः ॥ ८॥

शब्दार्थ

एकस्मिन्—एक (तत्त्व) में; अपि—भी; दृश्यन्ते—देखे जाते हैं; प्रविष्टानि—भीतर घुसे हुए; इतराणि—अन्य; च—भी; पूर्वस्मिन्—पूर्व वाले में; वा—अथवा; परस्मिन्—अथवा बाद वाले में; वा—अथवा; तत्त्वे—किसी तत्त्व में; तत्त्वानि—अन्य तत्त्व; सर्वशः—विभिन्न गणनाओं में से हर एक में।.

सारे सूक्ष्म तत्त्व वस्तुतः अपने स्थूल कार्यों के भीतर उपस्थित रहते हैं। इसी तरह सारे स्थूल तत्त्व अपने सूक्ष्म कारणों के भीतर उपस्थित रहते हैं क्योंकि भौतिक सृष्टि सूक्ष्म से स्थूल तत्त्वों की क्रमागत अभिव्यक्ति के रूप में होती है। इस तरह हम किसी एक तत्त्व में सारे भौतिक तत्त्वों को पा सकते हैं।

तात्पर्य : चूँकि भौतिक तत्त्व एक-दूसरे के भीतर उपस्थित हैं, इसलिए ईश्वर की सृष्टि का विश्लेषण करने तथा उसे श्रेणीबद्ध करने की असंख्य विधियाँ हैं। किन्तु अन्ततः सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व स्वयं भगवान् हैं, जो विराट विश्व के समस्त रूपान्तरों के आधार हैं। जैसाकि भगवान् कपिल के *सांख्य*

योग में बतलाया गया है, भौतिक जगत की सृष्टि सूक्ष्म से स्थूल तत्त्वों की ओर अग्रसर होने से होती है। यहाँ यह उदाहरण दिया जा सकता कि हमें कीचड़ के भीतर मिट्टी का छिपा हुआ पात्र मिल सकता है और मिट्टी के पात्र के भीतर कीचड़ मिल सकता है। इसी तरह एक तत्त्व दूसरे के भीतर उपस्थित है। और अन्त में सारे तत्त्व भगवान् में आश्रय पाते हैं, जो सारी वस्तुओं के भीतर एक ही समय में उपस्थित रहते हैं। इस तरह इस ब्रह्माण्ड को यथार्थ रूप में समझने के लिए कृष्णभावनामृत एक परम वैज्ञानिक विधि है।

पौर्वापर्यमतोऽमीषां प्रसङ्ख्यानमभीप्सताम् ।
यथा विविक्तं यद्वक्त्रं गृह्णीमो युक्तिसम्भवात् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

पौर्व—कारणरूप तत्त्वों को उनके व्यक्त कार्यों में सम्मिलित मानते हुए; अपर्यम्—अथवा तत्त्वों में उनके सूक्ष्म कारणों को निहित मानते हुए; अतः—इसलिए; अमीषाम्—इन चिन्तकों के; प्रसङ्ख्यानम्—गणना करते हुए; अभीप्सताम्—इच्छाकरने वालों के; यथा—जिस तरह; विविक्तम्—निश्चित; यत्-वक्त्रम्—जिसके मुख से; गृह्णीमः—हम स्वीकार करते हैं; युक्ति—तर्क का; सम्भवात्—सम्भावना से।.

इसलिए इनमें से चाहे जो भी विचारक बोल रहा हो और इसकी परवाह न करते हुए कि वे अपनी गणनाओं में भौतिक तत्त्वों को उनके पिछले सूक्ष्म कारणों में सम्मिलित करें अथवा उनके परवर्ती प्रकट कार्यों के भीतर करें, मैं उनके मतों को प्रामाणिक मान लेता हूँ क्योंकि विभिन्न सिद्धान्तों में से हर एक की तार्किक व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है।

तात्पर्य : यद्यपि असंख्य दार्शनिक भौतिक सृष्टि का विवेकपूर्ण वर्णन विभिन्न दृष्टियों से कर सकते हैं, किन्तु कृष्णभावनामृत के बिना किसी का भी ज्ञान पूर्ण नहीं बन सकता। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति को केवल इस आधार पर झूठे ही गर्व नहीं करना चाहिए कि उसने इस जगत के भीतर किसी विशेष सत्य को निश्चित कर लिया है। भगवान् यहाँ पर बतलाते हैं कि जो कोई विश्लेषण की वैदिक विधि का अनुसरण करता है, उसे भौतिक सृष्टि के विषय में अनेक अन्तर्दृष्टियाँ प्राप्त होंगी। किन्तु अन्ततः मनुष्य को भगवान् का भक्त बन कर कृष्णभावनामृत में अपने ज्ञान को पूर्ण बनाना चाहिए।

अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम् ।
स्वतो न सम्भवादन्यस्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अनादि—जिसका आदि न हो; अविद्या—अज्ञान से; युक्तस्य—जुड़े रहने वाले; पुरुषस्य—पुरुष का; आत्म-वेदनम्—आत्म-साक्षात्कार की विधि; स्वतः—अपनी योग्यता से; न सम्भवात्—चूँकि ऐसा हो नहीं सकता; अन्यः—दूसरा व्यक्ति; तत्त्व-ज्ञः—दिव्य सचाई को जानने वाला; ज्ञान-दः—असली ज्ञान का प्रदाता; भवेत्—हो।

चूँकि अनादि काल से अज्ञान से आवृत व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार करने में अक्षम होता है, अतएव ऐसा कोई अन्य व्यक्ति होना चाहिए जो परब्रह्म को पूरी तरह जानता हो और उसे यह ज्ञान प्रदान कर सकता हो।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् को भौतिक कार्यों के भीतर उनके कारणों तथा कार्यों को उनके कारणों के भीतर गणना करने की विभिन्न विधियाँ सह्य हैं, किन्तु इस ब्रह्माण्ड में पाये जाने वाले दो आध्यात्मिक तत्त्वों—अर्थात् आत्मा तथा परमात्मा के विषय में कोई कल्पना नहीं हो सकती। इस श्लोक में भगवान् कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि जीव अपने को प्रकाश प्रदान नहीं कर सकता। भगवान् तो *तत्त्वज्ञ* तथा *ज्ञानद* हैं। श्रील उद्धव ने उल्लेख किया है कि कुछ दार्शनिक २५ तत्त्वों का और कुछ २६ तत्त्वों का वर्णन करते हैं। इनमें अन्तर यह है कि छब्बीस तत्त्वों में आत्मा तथा परमात्मा कृष्ण की पृथक्-पृथक् कोटि है, जबकि २५ तत्त्वों के समर्थक *जीव तत्त्व* तथा *विष्णु तत्त्व* की दो कोटियों को एक में मिला देते हैं और भगवान् की सर्वश्रेष्ठता को छुपा लेते हैं।

प्रकृति के तीन गुणों पर आधारित ज्ञान कभी दिव्य पद को प्राप्त नहीं कर सकता जहाँ पर भगवान् रूप, रंग, स्वाद, संगीतमय ध्वनि, प्रेमालाप (माधुर्य) की शाश्वत आध्यात्मिक विविधताओं के परम भोक्ता हैं। संसारी दार्शनिक भौतिक भोग तथा भौतिक वैराग्य के बीच उछल-कूद मचाते रहते हैं। वे परब्रह्म की मायावाद (निर्विशेष) अनुभूति के शिकार होने के कारण भगवान् की शरण प्राप्त नहीं कर सकते, अतएव वे उन्हें समझ नहीं पाते। चूँकि मूर्ख निर्विशेष दार्शनिकजन अपने को सर्वोच्च मानते हैं, इसलिए वे यह समझ ही नहीं पाते कि भक्ति को आध्यात्मिक पद प्राप्त रहता है। ये निर्विशेषवादी भगवान् की अधीनता का डट कर बहिष्कार करते हुए अन्त में भगवान् की माया से अभिभूत हो जाते हैं और संसार के कष्ट भोगते हैं। दूसरी ओर, वैष्णव भगवान् से ईर्ष्या नहीं करते। वे प्रसन्नतापूर्वक उनकी शरण तथा सर्वश्रेष्ठता स्वीकार कर लेते हैं। इस तरह भगवान् अपने भक्तों का भार अपने ऊपर लेकर उन्हें प्रबुद्ध बनाते हैं और अपने दिव्य आनन्द से परिपूर्ण बनाते हैं। इस तरह भगवान् की आध्यात्मिक सेवा निराशा तथा भौतिक सेवा के उत्पीड़न से मुक्त है।

पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि ।
तदन्यकल्पनापार्था ज्ञानं च प्रकृतेर्गुणः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

पुरुष—भोक्ता; ईश्वरयोः—तथा परम नियन्ता के मध्य; अत्र—यहाँ पर; न—नहीं है; वैलक्षण्यम्—असमानता; अणु—सूक्ष्म; अपि—भी; तत्—उनके; अन्य—सर्वथा पृथक् होकर के; कल्पना—कल्पित भाव; अपार्था—व्यर्थ; ज्ञानम्—ज्ञान; च—तथा; प्रकृतेः—प्रकृति का; गुणः—गुण।

सतोगुणी ज्ञान के अनुसार जीव तथा परम नियन्ता में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं हैं। उनमें गुणात्मक अन्तर की कल्पना व्यर्थ है।

तात्पर्य : कुछ दार्शनिकों के अनुसार तत्त्व २५ हैं जिनमें आत्मा तथा परमात्मा को एक ही कोटि में माना जाता है। भगवान् ऐसे निर्विशेष ज्ञान को भौतिक बतलाते हैं—*ज्ञानं च प्रकृतेः गुणः* किन्तु ऐसे ज्ञान को परमेश्वर की तथा परमेश्वर के अंशरूप जीवों की जो उन्हीं से उद्भूत हैं, गुणात्मक समता स्थापित करने में स्वीकार किया जा सकता है। कभी कभी भौतिकतावादी व्यक्ति यह विश्वास करते हैं कि परम आत्मा तो स्वर्ग में है किन्तु वे यह भी सोचते हैं कि मनुष्य अपने शरीरों से अभिन्न हैं और इस तरह गुणात्मक रूप से सदा-सदा के लिए परमेश्वर से पृथक् हैं। जैसाकि इस श्लोक में वर्णित है, जीव के साथ भगवान् का गुणात्मक एकत्व, जीवन की भौतिकतावादी धारणा का खंडन करता है और परब्रह्म की आंशिक स्थापना करता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने वास्तविक स्थिति को *अचिन्त्य भेदाभेदतत्त्व* बतलाया है। सतोगुण होने पर एकत्व की अनुभूति की जाती है। किन्तु जब मनुष्य बढ़कर *विशुद्ध सत्त्व* को प्राप्त होता है, तो उसे गुणात्मक एकत्व के भीतर आध्यात्मिक विविधता प्राप्त होती है, जिससे परब्रह्म विषयक ज्ञान पूरा हो जाता है। *न वैलक्षण्यम् अण्वपि* शब्द यह पुष्टि करते हैं कि जीव निर्विवादतः भगवान् का अंश है और गुणात्मक रूप से उनसे एकाकार है। इस तरह जीव को परमेश्वर से पृथक् करने तथा भगवान् के प्रति उसकी नित्य दासता से इनकार करने के किसी दार्शनिक प्रयास का खंडन किया जाता है। जीव की भगवान् से स्वतंत्र सत्ता के निष्कर्ष तक पहुँचने की कल्पना को यहाँ पर *अपार्था* अर्थात् व्यर्थ कहा गया है। फिर भी आध्यात्मिक ज्ञान के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में भगवान् को २५ तत्त्वों का सिद्धान्त मान्य है।

प्रकृतिर्गुणसाम्यं वै प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः ।
सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

प्रकृतिः—प्रकृति; गुण—तीन गुणों की; साम्यम्—आदि साम्यावस्था; वै—निस्सन्देह; प्रकृतेः—प्रकृति के; न आत्मनः—आत्मा के नहीं; गुणाः—ये गुण; सत्त्वम्—सतो; रजः—रजो; तमः—तमो; इति—इस प्रकार कहलाने वाले; स्थिति—सृष्टि के पालन; उत्पत्ति—इसके उत्पन्न होने; अन्त—तथा इसके संहार के; हेतवः—कारण।

मूलतः प्रकृति तीन गुणों की साम्यावस्था के रूप में विद्यमान रहती है और ये गुण दिव्य आत्मा के न होकर एकमात्र प्रकृति के होते हैं। ये गुण—सतो, रजो तथा तमोगुण—इस ब्रह्माण्ड के सृजन, पालन तथा संहार के प्रभावशाली कारण हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (३.२७) में कहा गया है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वशः ।
अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

''जीवात्मा अहंकार के प्रभाव से मोहग्रस्त होकर अपने आपको समस्त कार्यों का कर्ता मान बैठता है, जबकि वास्तव में वे प्रकृति के तीन गुणों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं।''

अपनी आदि साम्यावस्था में प्रकृति के तीनों गुण तथा बाद में इन गुणों से उत्पन्न सृष्टि उस जीव की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते हैं, जो उनके द्वारा नियंत्रित होता है। इस तरह इस जगत में जीव को वास्तविक कर्ता या स्रष्टा नहीं माना जा सकता। सतोगुण का प्रतीक है ज्ञान का अनुभव, रजोगुण का प्रतीक है कर्म का अनुभव और तमोगुण का प्रतीक है अंधकार का अनुभव। ज्ञान, कर्म तथा अंधकार के इन गुणों का दिव्य आत्मा से कोई असली सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप के गुण प्रदर्शित करता है (सन्धिनी, संवित तथा ह्लादिनी शक्तियाँ)। भौतिक गुणों की भगवद्धाम में कोई पहुँच नहीं है, जिसके अनन्त वातावरण में रहने के लिए जीव है।

सत्त्वं ज्ञानं रजः कर्म तमोऽज्ञानमिहोच्यते ।
गुणव्यतिकरः कालः स्वभावः सूत्रमेव च ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतोगुण; ज्ञानम्—ज्ञान; रजः—रजोगुण; कर्म—सकाम कर्म; तमः—तमोगुण; अज्ञानम्—मूर्खता; इह—इस जगत में; उच्यते—कहलाता है; गुण—गुणों का; व्यतिकरः—क्षुब्ध विकार; कालः—काल; स्वभावः—आन्तरिक मनोवृत्ति, प्रकृति; सूत्रम्—महत् तत्त्व; एव—निस्सन्देह; च—भी।

इस जगत में सतोगुण को ज्ञान, रजोगुण को सकाम कर्म तथा तमोगुण को अज्ञान माना जाता है। काल को भौतिक गुणों की क्षुब्ध अन्तःक्रिया के रूप में देखा जाता है और आदि सूत्र

अर्थात् महत् तत्त्व से समग्र कार्य की मनोवृत्ति प्रकट होती है।

तात्पर्य : भौतिक तत्त्वों की पारस्परिक क्रिया के लिए जो प्रोत्साहन है, वही काल की अग्रगामी चाल है। काल के बीतने से गर्भ में भ्रूण बढ़ता है, धीरे धीरे बाहर आता है, फिर बढ़ता है, प्रतिफल उत्पन्न करता है, क्षीण होता है तथा मर जाता है। यह सब काल के प्रभाव से होता है। काल की अनुपस्थिति में तत्त्व परस्पर क्रिया नहीं करते अपितु *प्रधान* के रूप में निष्क्रिय बने रहते हैं। कृष्ण भौतिक जगत की मूलभूत कोटियों की स्थापना कर रहे हैं जिससे मनुष्य भगवान् की सृष्टि का अनुमान लगा सकें। यदि कोटियों को संक्षिप्त न किया गया होता, तो विश्लेषण तथा अनुभूतिकरण असम्भव होते, क्योंकि भगवान् की शक्ति अनन्त है। यद्यपि भौतिक तत्त्वों के आधारभूत विभागों में अनेक विभाग हैं किन्तु आत्मा को सदैव एक पृथक् दिव्य तत्त्व माना जाता है, जो ईश्वर के धाम में निवास के लिए बनाया गया है।

पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमहङ्कारो नभोऽनिलः ।
ज्योतिरापः क्षितिरिति तत्त्वान्युक्तानि मे नव ॥ १४॥

शब्दार्थ

पुरुषः—भोक्ता; प्रकृतिः—प्रकृति; व्यक्तम्—पदार्थ की आदि अभिव्यक्ति; अहङ्कारः—मिथ्या अहंकार; नभः—आकाश; अनिलः—वायु; ज्योतिः—अग्नि; आपः—जल; क्षितिः—पृथ्वी; इति—इस प्रकार; तत्त्वानि—सृष्टि के सारे तत्त्व; उक्तानि—कहे गये; मे—मेरे द्वारा; नव—नौ।.

मैं नौ मूल तत्त्वों का वर्णन भोक्ता आत्मा, प्रकृति, महत् तत्त्व की आदि अभिव्यक्ति, मिथ्या अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी के रूप में कर चुका हूँ।

तात्पर्य : *प्रकृति* प्रारम्भ में अव्यक्त रहती है, किन्तु बाद में *महत् तत्त्व* रूप में प्रकट होती है। यद्यपि जीव पुरुष या भोक्ता है, किन्तु जिस वास्तविक विधि से वह भोग कर सकता है, वह भगवान् की दिव्य इन्द्रियों को प्रसन्न करने में है, जिस तरह कि हाथ आमाशय को भोजन देकर स्वयं भोजन करता है। भौतिक प्रकृति के भीतर जीव भगवान् के प्रति अपनी अधीनता को भूल कर मिथ्या भोक्ता बन जाता है। इस तरह जीव तथा परमात्मा के साथ भौतिक तत्त्वों का क्रमबद्ध विश्लेषण यह दिखाने के लिए किया जाता है कि बद्धजीव की वास्तविक स्वाभाविक स्थिति प्रकृति से परे है।

श्रोत्रं त्वग्दर्शनं घ्राणो जिह्वेति ज्ञानशक्तयः ।

वाक्पाण्युपस्थपाय्वङ्घ्रिः कर्माण्यङ्गोभयं मनः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

श्रोत्रम्—सुनने की इन्द्रिय; त्वक्—स्पर्श जो त्वचा पर अनुभव किया जाता है उसकी इन्द्रिय; दर्शनम्—दृष्टि; घ्राणः—गंध; जिह्वा—स्वाद की इन्द्रिय, जिसका अनुभव जीभ पर होता है; इति—इस प्रकार; ज्ञान-शक्तयः—ज्ञानअर्जित करने वाली इन्द्रियाँ; वाक्—वाणी; पाणि—हाथ; उपस्थ—जननांग; पायु—गुदा; अङ्घ्रिः—पाँव; कर्माणि—कर्मेन्द्रियाँ; अङ्ग—हे उद्धव; उभयम्—दोनों ही कोटियों की; मनः—मन।

हे उद्धव, श्रवण, स्पर्श, दृष्टि, गंध तथा स्वाद—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और वाणी, हाथ, जननेन्द्रिय, गुदा तथा पाँव—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। मन इन दोनों कोटियों में आता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में ग्यारह तत्त्वों का वर्णन हुआ है।

शब्दः स्पर्शो रसो गन्धो रूपं चेत्यर्थजातयः ।
गत्युक्त्युत्सर्गशिल्पानि कर्मायतनसिद्धयः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

शब्दः—ध्वनि; स्पर्शः—स्पर्श; रसः—स्वाद; गन्धः—सुगन्धि; रूपम्—रूप; च—तथा; इति—इस प्रकार; अर्थ—इन्द्रिय-विषयों की; जातयः—कोटियाँ; गति—चाल; उक्ति—वाणी; उत्सर्ग—मलमूत्र का त्याग (जननेन्द्रिय तथा गुदा दोनों द्वारा); शिल्पानि—तथा निर्माण; कर्म-आयतन—उपर्युक्त कर्मेन्द्रियों द्वारा; सिद्धयः—सम्पन्न।

ध्वनि, स्पर्श, स्वाद, गंध तथा रूप ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं और गति, वाणी, उत्सर्ग तथा शिल्प—ये कर्मेन्द्रियों के विषय हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर *उत्सर्ग* सूचक है जननेन्द्रिय तथा गुदा से मल-त्याग का और इस तरह इसमें दो तत्त्व रहते हैं। इस तरह पाँच-पाँच के दो समूहों में कुल दस तत्त्वों की सूची दी हुई है।

सर्गादौ प्रकृतिर्ह्यस्य कार्यकारणरूपिणी ।
सत्त्वादिभिर्गुणैर्धत्ते पुरुषोऽव्यक्त ईक्षते ॥ १७॥

शब्दार्थ

सर्ग—सृष्टि का; आदौ—प्रारम्भ में; प्रकृतिः—भौतिक प्रकृति; हि—निस्सन्देह; अस्य—इस ब्रह्माण्ड का; कार्य—प्रकट फल; कारण—तथा सूक्ष्म कारण; रूपिणी—साकार; सत्त्व-आदिभिः—सतो, रजो तथा तमो; गुणैः—गुणों द्वारा; धत्ते—अपना पद ग्रहण करता है; पुरुषः—परमेश्वर; अव्यक्तः—भौतिक अभिव्यक्ति में जो लोग न हो; ईक्षते—देखता है।

सृष्टि के प्रारम्भ में सतो, रजो तथा तमोगुणों के द्वारा प्रकृति इस ब्रह्माण्ड में समस्त सूक्ष्म कारणों तथा स्थूल अभिव्यक्तियों से युक्त होकर अपना रूप ग्रहण करती है। भगवान् भौतिक अभिव्यक्ति की पारस्परिक क्रिया में प्रविष्ट नहीं होता, अपितु प्रकृति पर केवल दृष्टिपात करता है।

तात्पर्य : भगवान् सूक्ष्म तथा स्थूल भौतिक तत्त्वों की तरह रूपान्तरित नहीं होते। इस तरह भगवान्

अव्यक्त हैं अर्थात् विश्व के विकास की किसी भी अवस्था में अपने को प्रकट नहीं करते। भौतिक तत्त्वों की सूची चाहे जिस विधि से बनाई जाय, भगवान् सम्पूर्ण विश्व के चरम स्रष्टा, पालक तथा संहारक बने रहते हैं।

व्यक्तादायो विकुर्वाणा धातवः पुरुषेक्षया ।
लब्धवीर्याः सृजन्त्यण्डं संहताः प्रकृतेर्बलात् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

व्यक्त-आदयः—महत् तत्त्व इत्यादि; विकुर्वाणाः—रूपान्तरित होने वाले; धातवः—तत्त्व; पुरुष—भगवान् की; ईक्षया—चितवन से; लब्ध—प्राप्त हुआ; वीर्याः—उनकी शक्तियाँ; सृजन्ति—सृष्टि करती हैं; अण्डम्—ब्रह्माण्ड; संहताः—घुला-मिला; प्रकृतेः—प्रकृति का; बलात्—बल द्वारा।

जब महत् तत्त्व आदि भौतिक तत्त्व रूपान्तरित होते हैं, तो वे भगवान् के दृष्टिपात से अपनी विशिष्ट शक्तियाँ प्राप्त करते हैं। वे प्रकृति की शक्ति के मिलने-जुलने से विश्व अंडा (ब्रह्माण्ड) उत्पन्न करती हैं।

सप्तैव धातव इति तत्रार्थाः पञ्च खादयः ।
ज्ञानमात्मोभयाधारस्ततो देहेन्द्रियासवः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सप्त—सात; एव—निस्सन्देह; धातवः—तत्त्व; इति—इस प्रकार कह कर; तत्र—वहाँ; अर्थाः—भौतिक तत्त्व; पञ्च—पाँच; ख-आदयः—आकाश इत्यादि; ज्ञानम्—ज्ञान का स्वामी आत्मा; आत्मा—परमात्मा; उभय—दोनों का (जीव, जो कि द्रष्टा है तथा दृष्ट प्रकृति); आधारः—मूलभूत आधार; ततः—इनसे; देह—शरीर; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; असवः—तथा जीवनदायी वायु।

कुछ दार्शनिकों के अनुसार तत्त्व सात हैं। ये हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश। इसी के साथ चेतन आत्मा तथा परमात्मा भी सम्मिलित हैं, जो भौतिक तत्त्वों तथा सामान्य आत्मा दोनों ही के आधाररूप हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण-वायु तथा अन्य सारे भौतिक कार्य इन्हीं सात तत्त्वों से उत्पन्न हैं।

तात्पर्य : अपना मत बता चुकने के बाद भगवान् अब अन्य विविध वैश्लेषिक विधियों का सारांश दे रहे हैं।

षडित्यत्रापि भूतानि पञ्च षष्ठः परः पुमान् ।
तैर्युइत आत्मसम्भूतैः सृष्ट्वेदं समपाविशत् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

षट्—छह; इति—इस सिद्धान्त में; अत्र—इस सिद्धान्त में; अपि—भी; भूतानि—तत्त्व; पञ्च—पाँच; षष्ठः—छठा; परः—दिव्य; पुमान्—भगवान्; तैः—उन (पाँच स्थूल तत्त्वों) से; युक्तः—जुड़ा; आत्म—अपने से; सम्भूतैः—उत्पन्न; सृष्ट्वा—निर्मित कर; इदम्—यह सृष्टि; समुपाविशत्—उन्होंने भीतर प्रवेश किया।

अन्य दार्शनिकों का कहना है कि तत्त्व छः हैं—पाँच तो भौतिक तत्त्व (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश) हैं तथा छठा तत्त्व भगवान् है। वही भगवान् जो अपने से निकले हुए तत्त्वों से युक्त होकर इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं और तब स्वयं उसके भीतर प्रवेश करते हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी कहते हैं कि इस दर्शन के अनुसार साधारण जीव को परमात्मा की कोटि में सम्मिलित किया जाता है। इस तरह यह सिद्धान्त एकमात्र भगवान् को तथा पाँच भौतिक तत्त्वों को स्वीकार करता है।

चत्वार्येवेति तत्रापि तेज आपोऽन्नमात्मनः ।
जातानि तैरिदं जातं जन्मावयविनः खलु ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

चत्वारि—चार; एव—भी; इति—इस प्रकार; तत्र—उस दशा में; अपि—भी; तेजः—अग्नि; आपः—जल; अन्नम्—पृथ्वी; आत्मनः—आत्मा से; जातानि—उत्पन्न; तैः—उनके द्वारा; इदम्—यह जगत; जातम्—उत्पन्न हुआ; जन्म—जन्म; अवयविनः—प्रकट फल का; खलु—निस्सन्देह।

कुछ दार्शनिक चार मूलभूत तत्त्वों की उपस्थिति का अनुमोदन करते हैं जिनमें से अग्नि, जल तथा पृथ्वी—ये तीन तत्त्व एक चौथे तत्त्व आत्मा से उद्भूत हैं। एक बार अस्तित्व में आने पर ये तत्त्व विराट जगत उत्पन्न करते हैं जिसमें सारा भौतिक सृजन होता है।

सङ्ख्याने सप्तदशके भूतमात्रेन्द्रियाणि च ।
पञ्च पञ्चैकमनसा आत्मा सप्तदशः स्मृतः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सङ्ख्याने—गणना में; सप्तदशके—सत्रह तत्त्वों के रूप में; भूत—पाँच स्थूल तत्त्व; मात्र—पाँचों की सूक्ष्म अनुभूतियाँ; इन्द्रियाणि—तथा पाँच संगत इन्द्रियाँ; च—भी; पञ्च पञ्च—पाँच पाँच के समूहों में; एक-मनसा—एक मन के साथ साथ; आत्मा—आत्मा; सप्तदशः—सत्रहवाँ; स्मृतः—ऐसा माना जाता है।

कुछ लोग सत्तरह मूलभूत तत्त्वों के अस्तित्व की गणना करते हैं—ये हैं पाँच स्थूल तत्त्व, पाँच इन्द्रिय-विषय, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन तथा सत्तरहवाँ आत्मा।

तद्वत्षोडशसङ्ख्याने आत्मैव मन उच्यते ।
भूतेन्द्रियाणि पञ्चैव मन आत्मा त्रयोदश ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तद्वत्—इसी तरह; षोडश-सङ्ख्याने—सोलह की गणना में; आत्मा—आत्मा; एव—निस्सन्देह; मनः—मन के रूप में; उच्यते—पहचाना जाता है; भूत—पाँच स्थूल तत्त्व; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; पञ्च—पाँच; एव—निश्चय ही; मनः—मन; आत्मा—आत्मा (आत्मा तथा परमात्मा दोनों); त्रयोदश—तेरह ।

सोलह तत्त्वों की गणना करने पर पिछले सिद्धान्त से केवल इतना ही अन्तर होता है कि आत्मा की पहचान मन से कर ली जाती है। यदि हम पाँच भौतिक तत्त्वों, पाँच इन्द्रियों, मन, आत्मा तथा परमेश्वर की कल्पना करें, तो तत्त्वों की संख्या तेरह होती है।

तात्पर्य : तेरह तत्त्वों वाले सिद्धान्त में स्वाद, गंध, रूप, स्पर्श तथा ध्वनि—इन इन्द्रिय-विषयों को इन्द्रियों तथा भौतिक पदार्थ की पारस्परिक क्रिया का प्रतिफल माना जाता है।

**एकादशत्व आत्मासौ महाभूतेन्द्रियाणि च ।
अष्टौ प्रकृतयश्चैव पुरुषश्च नवेत्यथ ॥ २४॥**

शब्दार्थ

एकादशत्वे—ग्यारह के विचार में; आत्मा—आत्मा; असौ—यह; महा-भूत—स्थूल तत्त्व; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; च—तथा; अष्टौ—आठ; प्रकृतयः—प्राकृतिक तत्त्व (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार); च—भी; एव—निश्चय ही; पुरुषः—परमेश्वर; च—तथा; नव—नव; इति—इस प्रकार; अथ—और भी ।

ग्यारह की गणना में आत्मा, स्थूल तत्त्व तथा इन्द्रियाँ आती हैं। आठ स्थूल तथा सूक्ष्म तत्त्वों के साथ परमेश्वर को मिलाने पर नौ की संख्या हो जाती है।

**इति नानाप्रसङ्ख्यानं तत्त्वानामृषिभिः कृतम् ।
सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद्विदुषां किमशोभनम् ॥ २५॥**

शब्दार्थ

इति—इसी तरह से; नाना—विविध; प्रसङ्ख्यानम्—गणना; तत्त्वानाम्—तत्त्वों की; ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा; कृतम्—किया गया; सर्वम्—यह सारा; न्याय्यम्—तार्किक; युक्ति-मत्त्वात्—युक्तियुक्त होने से; विदुषाम्—विद्वानों के; किम्—क्या; अशोभनम्—प्रखरता का अभाव ।

इस तरह दार्शनिकों ने भौतिक तत्त्वों का विश्लेषण अनेक प्रकारों से किया है। उनके सारे प्रस्ताव युक्तियुक्त हैं क्योंकि उन्हें पर्याप्त तर्क के साथ प्रस्तुत किया गया है। निस्सन्देह ऐसी तार्किक प्रखरता की आशा वास्तविक विद्वानों से ही की जाती है।

तात्पर्य : असंख्य प्रखर दार्शनिकों द्वारा इस भौतिक जगत की विवेचना असंख्य विधियों से की जा चुकी है, किन्तु निष्कर्ष एक—भगवान् वासुदेव—ही निकलता है। महत्त्वाकांक्षी दार्शनिकों को अपनी बुद्धि की प्रखरता दिखलाने में बहुमूल्य समय नहीं गँवाना चाहिए क्योंकि अब विवेचना के लिए

कुछ भी शेष नहीं रह गया। मनुष्य को परब्रह्म परम तत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करनी चाहिए और अपनी नित्य ईश-चेतना का उद्घाटन करना चाहिए।

श्रीउद्धव उवाच
प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ यद्यप्यात्मविलक्षणौ ।
अन्योन्यापाश्रयात्कृष्ण दृश्यते न भिदा तयोः ।
प्रकृतौ लक्ष्यते ह्यात्मा प्रकृतिश्च तथात्मनि ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; प्रकृतिः—प्रकृति; पुरुषः—भोक्ता, जीव; च—तथा; उभौ—दोनों; यदि अपि—यद्यपि; आत्म—स्वाभाविक रूप से; विलक्षणौ—सुस्पष्ट, भिन्न; अन्योन्य—पारस्परिक; अपाश्रयात्—आश्रय के कारण; कृष्ण—हे कृष्ण; दृश्यते न—दिखाई नहीं पड़ता; भिदा—कोई अन्तर; तयोः—उनके मध्य; प्रकृतौ—प्रकृति में; लक्ष्यते—आभास होता है; हि—निस्सन्देह; आत्मा—आत्मा; प्रकृतिः—प्रकृति; च—तथा; तथा—भी; आत्मनि—आत्मा में।

श्री उद्धव ने पूछा : हे कृष्ण, यद्यपि स्वभाव से प्रकृति तथा जीव भिन्न हैं, किन्तु उनमें कोई अन्तर नहीं दिखता क्योंकि वे एक-दूसरे के भीतर निवास करते पाये जाते हैं। इस तरह आत्मा प्रकृति के भीतर और प्रकृति आत्मा के भीतर प्रतीत होती है।

तात्पर्य : श्री उद्धव यहाँ पर उस संशय को व्यक्त कर रहे हैं, जो सामान्य बद्धजीव के हृदय में उठता है। यद्यपि वैदिक शास्त्र घोषित करते हैं कि भौतिक शरीर प्रकृति के गुणों का नश्वर ताना-बाना है, किन्तु शरीर के भीतर का जीव वस्तुतः शाश्वत आत्मा है। *भगवद्गीता* में भगवान् ने घोषित किया है कि शरीर को निर्मित करने वाले भौतिक तत्त्व उनकी भिन्नाशक्ति हैं जबकि जीव परा चेतन शक्ति है। फिर भी बद्ध जीवन में शरीर तथा बद्ध आत्मा एक-दूसरे से विलग न होने वाले तथा अभिन्न प्रतीत होते हैं। चूँकि जीव माता के गर्भ में प्रवेश करता है और क्रमशः बढ़ते हुए विकसित शरीर के रूप में बाहर आता है, अतएव ऐसा लगता है कि आत्मा भौतिक प्रकृति में गहरा प्रविष्ट कर गया है। इसी तरह आत्मा की पहचान भौतिक शरीर के रूप में करने से, शरीर आत्मा की चेतना में गहरा प्रवेश करता प्रतीत होता है। इससे भी जो बड़ी बात है, वह यह कि शरीर आत्मा के बिना नहीं रह सकता। इस पारस्परिक निर्भरता के कारण शरीर तथा आत्मा का अन्तर धूमिल पड़ जाता है। इसीलिए श्री उद्धव इस विषय को स्पष्ट करने के लिए भगवान् से प्रश्न पूछते हैं।

एवं मे पुण्डरीकाक्ष महान्तं संशयं हृदि ।

छेत्तुमर्हसि सर्वज्ञ वचोभिर्नयनैपुणै: ॥ २७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; मे—मेरा; पुण्डरीक-अक्ष—हे कमलनयन भगवान्; महान्तम्—महान्; संशयम्—सन्देह को; हृदि—मेरे हृदय के भीतर; छेत्तुम्—काट देना; अर्हसि—आपको चाहिए कि; सर्व-ज्ञ—हे सर्वज्ञाता; वचोभि:—अपने शब्दों से; नय—तर्क में; नैपुणै:—अत्यन्त निपुण।.

हे कमलनयन कृष्ण, हे सर्वज्ञ, कृपया आप अपने उन शब्दों से मेरे हृदय के इस महान् संशय को छिन्न-भिन्न कर दें जो आपकी परम तर्क-पटुता को दिखलाने वाले हैं।

तात्पर्य : श्री उद्धव भगवान् कृष्ण से अनुरोध कर रहे हैं कि वे शरीर तथा आत्मा के अन्तर को स्पष्ट करें।

त्वत्तो ज्ञानं हि जीवानां प्रमोषस्तेऽत्र शक्तित: ।
त्वमेव ह्यात्ममायाया गतिं वेत्थ न चापर: ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

त्वत्त:—आपसे; ज्ञानम्—ज्ञान; हि—निस्सन्देह; जीवानाम्—सजीव प्राणियों का; प्रमोष:—चुराया जाना; ते—आपका; अत्र—इस ज्ञान में; शक्तित:—शक्ति से; त्वम्—आप; एव—एकमात्र; हि—निस्सन्देह; आत्म—आपकी; मायाया:—माया का; गतिम्—असली स्वभाव; वेत्थ—आप जानते हैं; न—नहीं; च—तथा; अपर:—कोई अन्य व्यक्ति।.

आपसे ही जीवों का ज्ञान उदय होता है और आपकी शक्ति से वह ज्ञान चला जाता है। निस्सन्देह, आपके अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति आपकी माया के असली स्वभाव को नहीं जान सकता।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है—*मत्त: स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होती है। मनुष्य को भगवान् की अहैतुकी कृपा होने पर ज्ञान प्राप्त होता है और भगवान् की मायाशक्ति से वही ज्ञान जाता रहता है और वह मनुष्य अज्ञान में लीन हो जाता है। जो लोग माया द्वारा मोहित हैं, वे शरीर तथा आत्मा के अन्तर को नहीं समझ सकते। अतएव इस मायामय आवरण को हटाने के लिए उन्हें भगवान् से सुनना चाहिए।

श्रीभगवानुवाच
प्रकृति: पुरुषश्चेति विकल्प: पुरुषर्षभ ।
एष वैकारिक: सर्गो गुणव्यतिकरात्मक: ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; प्रकृतिः—प्रकृति; पुरुषः—भोक्ता, जीव; च—तथा; इति—इस प्रकार; विकल्पः—पूर्ण अन्तर; पुरुष-ऋषभ—हे पुरुषों में श्रेष्ठ; एषः—यह; वैकारिकः—रूपान्तरशील; सर्गः—सृष्टि; गुण—प्रकृति के गुणों के; व्यतिकर—विक्षोभ पर; आत्मकः—आधारित।

भगवान् ने कहा : हे पुरुष-श्रेष्ठ, प्रकृति तथा इसका भोक्ता स्पष्ट रूप से पृथक् पृथक् हैं। यह व्यक्त सृष्टि प्रकृति के गुणों के विक्षोभ पर आधारित होने के कारण निरन्तर रूपान्तरित होती रहती है।

तात्पर्य : *पुरुष* शब्द जीव तथा सर्वोपरि व्यक्ति अर्थात् परमेश्वर का भी सूचक है। भौतिक प्रकृति परिवर्तनशील होने से द्वैत से पूर्ण है, जबकि भगवान् एक तथा सर्वोच्च हैं। भौतिक प्रकृति अपने स्रष्टा, पालक तथा संहर्ता पर आश्रित है, किन्तु भगवान् पूर्णतया आत्म-निर्भर तथा स्वतंत्र हैं। इसी तरह प्रकृति अचेतन तथा जड़ है, जिसमें आत्म-चेतनता का अभाव है, किन्तु परमेश्वर आत्मनिर्भर एवं सर्वज्ञ हैं। जीव भगवान् की नित्यतता, आनन्द तथा ज्ञान में हाथ बँटाता है और वह प्रकृति से सर्वथा भिन्न भी है।

सर्ग शब्द यहाँ पर शरीर के भौतिक मिश्रण का सूचक है, जो जीव को आच्छादित करता है। शरीर में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है अतएव वह जीव से सर्वथा भिन्न है, जो शाश्वत एक रहता आ रहा है। दिव्य भगवद्धाम में सृजन, पालन तथा संहार को लेकर कोई संघर्ष या विक्षोभ नहीं होता जैसाकि भौतिक जगत में देखा जाता है। वहाँ पर सारी विविधता कृष्णभावनामृत के दिव्य प्रेमपूर्ण अनुभव में विवेचित की जाती है, जो कि आत्मा की स्वाभाविक स्थिति है।

ममाङ्ग माया गुणमय्यनेकधा
विकल्पबुद्धीश्च गुणैर्विधत्ते ।
वैकारिकस्त्रिविधोऽध्यात्ममेक-
मथाधिदैवमधिभूतमन्यत् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

मम—मेरा; अङ्ग—हे उद्धव; माया—भौतिक शक्ति; गुण-मयी—तीन गुणों वाली; अनेकधा—कई प्रकार के; विकल्प—विभिन्न स्वरूप; बुद्धीः—तथा इन अन्तरों की अनुभूतियाँ; च—तथा; गुणैः—गुणों के द्वारा; विधत्ते—स्थापित करती हैं; वैकारिकः—विकारों (परिवर्तनों) की पूरी अभिव्यक्ति; त्रि-विधः—तीन पक्षों वाला; अध्यात्मम्—अध्यात्म कहलाने वाला; एकम्—एक; अथ—तथा; अधिदैवम्—अधिदैव; अधिभूतम्—अधिभूत; अन्यत्—दूसरा।

हे उद्धव, मेरी माया तीन गुणों वाली है और वह उन्हीं के माध्यम से कार्य करती है। सृष्टि की विविधताओं को उनकी अनुभूति करने के लिए वह चेतना की विविधताओं समेत प्रकट करती

है। भौतिक परिवर्तन का व्यक्त परिणाम तीन रूपों में समझा जाता है—अध्यात्मिक, अधिदैविक तथा अधिभौतिक।

तात्पर्य : *विकल्पबुद्धि:* शब्द सूचित करता है कि विभिन्न भौतिक शरीरों के भीतर की चेतना भगवान् की सृष्टि के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन करती है। उदाहरणार्थ, समुद्री पक्षी समुद्र की हवा में तैरता हुआ वायु तथा ऊँचाई की भगवान् की दुनिया का अनुभव करता है। इसी तरह मछली जल के भीतर और अन्य जीव वृक्षों में या पृथ्वी के भीतर जीवन का अनुभव करते हैं। मानव समाज अपनी जागरूकता की झाँकी प्रस्तुत करता है। इसी तरह स्वर्ग तथा नरक में विभिन्न अनुभव प्राप्त हैं। भौतिक चेतना के ये सारे प्रकार भगवान् की माया के अंशरूप प्रकृति के तीन गुणों के ही रूपान्तर हैं।

दृग् रूपमार्कं वपुरत्र रन्ध्रे
परस्परं सिध्यति यः स्वतः खे ।
आत्मा यदेषामपरो य आद्यः
स्वयानुभूत्याखिलसिद्धसिद्धिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

दृक्—दृष्टि का कार्य (यथा अध्यात्म); रूपम्—दृश्य रूप (यथा अधिभूत); आर्कम्—सूर्य का; वपुः—आंशिक बिम्ब (यथा अधिदैव); अत्र—इस; रन्ध्रे—(आँख की पुतली के) छिद्र में; परस्परम्—आपस में; सिध्यति—एक-दूसरेकी अभिव्यक्ति करता है; यः—जो; स्वतः—अपनी शक्ति से; खे—आकाश में; आत्मा—परमात्मा; यत्—जो; एषाम्—इन (तीन रूपों) का; अपरः—पृथक्; यः—जो; आद्यः—आदि कारण; स्वया—अपने से; अनुभूत्या—दिव्य अनुभव; अखिल—समस्त; सिद्ध—प्रकट घटना; सिद्धिः—अभिव्यक्ति का स्त्रोत।.

दृष्टि, दृश्यरूप तथा आँख के छिद्र के भीतर सूर्य का बिम्ब—ये तीनों मिल कर एक दूसरे को प्रकट करने का कार्य करते हैं। किन्तु आकाश में स्थित आदि सूर्य स्वतः प्रकट है। इसी तरह समस्त जीवों का आदि कारण परमात्मा, जो सबों से पृथक् है, अपने ही दिव्य अनुभव के प्रकाश से, समस्त प्रकट होने वाली वस्तुओं के परम स्त्रोत के रूप में कार्य करता है।

तात्पर्य : स्वरूप को आँख के कार्य द्वारा पहचाना जाता है और आँख के कार्य को दृश्यरूप की उपस्थिति से जाना जाता है। दृष्टि तथा स्वरूप की यह अन्योन्य क्रिया देवताओं द्वारा प्रदत्त प्रकाश की उपस्थिति पर निर्भर करती है। इन देवताओं द्वारा विश्व-व्यवस्था की सेवा उनकी उपस्थिति से जानी जाती है जिनको सुव्यवस्थित करना होता है—अर्थात् अपनी आँखों से रूप का अनुभव करने वाले जीवों से। इस तरह तीन कारण अन्योन्याश्रयता के रूप से पाये जाते हैं—*अध्यात्म,* जो आँख जैसी

इन्द्रियों द्वारा प्रदर्शित होता है, *अधिभूत*—इन्द्रिय-विषय यथा रूप तथा *अधिदैव*—नियंत्रक विग्रहों का प्रभाव।

सूर्यमंडल स्वत:व्यक्त, स्वत:प्रकाशित तथा स्वत:अनुभवगम्य कहा जाता है। यह इन्द्रियों तथा इन्द्रिय-विषयों की अन्योन्याश्रयता से सम्बन्ध नहीं रखता यद्यपि यह उनके कार्य को सरल बनाता है। इसी तरह भगवान् सारे जीवों की अन्योन्याश्रयता के अनुभव को सुगम बनाता है। उदाहरणार्थ, समाचार-पत्र, रेडिओ तथा टेलीविजन जनता के लिए विश्व-घटनाओं को सुलभ कराते हैं। माता-पिता अपनी सन्तान को, शिक्षक अपने शिष्यों को, मित्र अपने मित्रों को जीवन-तथ्यों का उद्घाटन कराते हैं। सरकार अपनी इच्छा जनता को और जनता अपनी इच्छा सरकार को बतलाती है। सूर्य तथा चन्द्रमा सारी वस्तुओं के दृश्यरूपों को प्रकट करते हैं तथा ध्वनि की अनुभूति श्रव्य रूप को प्रकट करती है। संगीत या काव्य की ध्वनि अन्य जीवों की आन्तरिक भावनाओं को उद्घाटित करती है और गंध, स्पर्श तथा स्वाद द्वारा अन्य ज्ञान भासित होते हैं। इस तरह इन्द्रियों तथा मन की असंख्य इन्द्रिय-विषयों से अन्योन्य क्रिया द्वारा विभिन्न प्रकार का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। किन्तु ये सारी सूचनाप्रद अन्योन्य क्रियाएँ भगवान् की चरम प्रकाशक शक्ति पर निर्भर करती हैं। *ब्रह्म-संहिता* में(५.५२) कहा गया है—*यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणाम्*—सारे ग्रहों में से सूर्य को भगवान् की आँख माना जाता है। भगवान् अपनी दिव्य शक्ति से नित्य सर्वज्ञ हैं, इसलिए कोई भी व्यक्ति उन्हें किसी भी वस्तु के विषय में कुछ भी नहीं बता सकता। फिर भी जब हम कृष्णभावनामृत में स्तुति करते हैं, तो वे उसे स्वीकार करते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् कृष्ण यहाँ पर बतला रहे हैं कि उनके दिव्य गुण व्यक्त जगत के गुणों से सर्वथा भिन्न हैं। इस प्रकार भगवान् समस्त भौतिक प्रभाव से मुक्त—परम दिव्य जीव हैं।

एवं त्वगादि श्रवणादि चक्षु-
र्जिह्वादि नासादि च चित्तयुक्तम् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

एवम्—इसी तरह से; त्वक्-आदि—त्वचा, स्पर्श की अनुभूति तथा वायुदेव; श्रवण-आदि—कान, ध्वनि की अनुभूति तथा दिशाओं के देव; चक्षु:—आँखें (पिछले श्लोक में वर्णित); जिह्वा-अदि—जीभ स्वाद की अनुभूति तथा वरुण देव; नास-आदि—नाक घ्राण की अनुभूति तथा अश्विनी कुमार; च—भी; चित्त-युक्तम्—चेतना समेत (इसमें न केवल बद्ध चेतना तथा उसका विषय एवं अधिष्ठाता वासुदेव के साथ मन, चिंतन का विषय तथा चन्द्र देव, बुद्धि तथा ब्रह्मा, अहंकार तथा रुद्र देव सम्मिलित हैं)।

इसी तरह से त्वचा, कान, आँखें, जीभ तथा नाक जैसी इन्द्रियाँ तथा सूक्ष्म शरीर के

कार्यों—यथा बद्ध चेतना, मन, बुद्धि तथा अहंकार—की व्याख्या इन्द्रिय, अनुभूति के विषय तथा अधिष्ठाता देव के तेहरे अन्तर के रूप में की जा सकती है।

तात्पर्य : आत्मा का इन्द्रियों, इन्द्रिय-विषयों तथा अधिष्ठाता देवों के अन्योन्याश्रित कार्यों से कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं है। जीव मूलतः शुद्ध आत्मा है और वैकुण्ठ-लोक में वह भगवान् पर आश्रित रहने के लिए है। इसलिए पदार्थ तथा आत्मा को एक ही कोटि में व्याख्यायित करने का प्रयास व्यर्थ होगा क्योंकि उनका सम्बन्ध भगवान् की विभिन्न शक्तियों से होता है। इस तरह भगवान्, उनके धाम तथा अपने आप को देखने का कार्य शुद्ध कृष्णभावनामृत में अनुभव किये जाने वाली भौतिक विधि से सर्वथा विपरीत है।

योऽसौ गुणक्षोभकृतो विकारः
प्रधानमूलान्महतः प्रसूतः ।
अहं त्रिवृन्मोहविकल्पहेतु-
वैंकारिकस्तामस ऐन्द्रियश्च ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यः असौ—यह; गुण—प्रकृति के गुणों के; क्षोभ—क्षुब्ध होने से; कृतः—उत्पन्न; विकारः—रूपान्तर; प्रधान-मूलात्—प्रधान से उत्पन्न; महतः—महत तत्त्व से; प्रसूतः—उत्पन्न; अहम्—अहंकार; त्रि-वृत्—तीन अवस्थाओं में; मोह—मोह का; विकल्प—भौतिक विविधता; हेतुः—कारण; वैकारिकः—सतोगुण में सात्विक; तामसः—तमोगुण में तामस; ऐन्द्रियः—रजोगुणी राजस; च—तथा।.

जब प्रकृति के तीनों गुण विक्षुब्ध होते हैं, तो जो विकार उत्पन्न होता है, वह अहंकार तत्त्व की तीन अवस्थाओं में प्रकट होता है—ये हैं सात्विक, तामस तथा राजस। यह अहंकार जो महत तत्त्व से उत्पन्न होता है और जो स्वयं भी अव्यक्त प्रधान से उत्पन्न है, समस्त भौतिक मोह तथा द्वैत का कारण बन जाता है।

तात्पर्य : तीन गुणों के साथ पहचान के अपने अहंकार को छोड़ कर मनुष्य शुद्ध आदि अवस्था, कृष्णभावनामृत, प्राप्त कर सकता है। *मोहविकल्पहेतुः* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य अहंकारवश अपने को प्रकृति का भोक्ता समझता है और इस तरह सुख-दुख के रूप में भौतिक द्वैत का मिथ्या भाव उत्पन्न कर लेता है। अहंकार तो तब हटता है जब मनुष्य अपने को पूर्ण कृष्णभावनामृत में भगवान् का नित्य दास समझता है।

आत्मापरिज्ञानमयो विवादो
ह्यस्तीति नास्तीति भिदार्थनिष्ठः ।
व्यर्थोऽपि नैवोपरमेत पुंसां
मत्तः परावृत्तधियां स्वलोकात् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

आत्म—परमात्मा का; अपरिज्ञान-मयः—पूर्ण ज्ञान के अभाव पर आधारित; विवादः—काल्पनिक तर्क-वितर्क; हि—निस्सन्देह; अस्ति—(यह जगत) सत्य है; इति—ऐसा कहते हुए; न अस्ति—सत्य नहीं है; इति—ऐसा कहते हुए; भिदा—भौतिक अन्तर; अर्थ-निष्ठः—विवाद का केन्द्रबिन्दु मानते हुए; व्यर्थः—व्यर्थ; अपि—यद्यपि; न—नहीं; एव—निश्चय ही; उपरमेत—शान्त हो जाते हैं; पुंसाम्—मनुष्यों के लिए; मत्तः—मुझसे; परावृत्त—विमुख; धियाम्—ध्यान; स्व-लोकात्—जो उनसे अभिन्न हैं।

दार्शनिकों का यह काल्पनिक विवाद कि, ''यह जगत सत्य है, अथवा यह जगत सत्य नहीं है'' परमात्मा के अपूर्ण ज्ञान पर आधारित है और भौतिक द्वैत को समझने के लिए ही है। यद्यपि ऐसा विवाद व्यर्थ है किन्तु जिन व्यक्तियों ने अपने वास्तविक आत्म रूप मुझसे, अपना ध्यान हटा लिया है, वे इसे त्याग पाने में असमर्थ हैं।

तात्पर्य : यदि कोई व्यक्ति भगवान् के अस्तित्व के बारे में सन्देह करता है, तो वह भगवान् की सृष्टि की सत्यता के बारे में अवश्य ही सन्देह करेगा। इस तरह भगवान् कृष्ण को समझे बिना मात्र भौतिक जगत की सत्यता तथा असत्यता के विषय में तर्क या वाद-विवाद करना व्यर्थ है। यह भौतिक जग इसलिए सत्य है क्योंकि यह परम सत्य भगवान् कृष्ण से उद्भूत है। भगवान् कृष्ण की सत्यता को समझे बिना कोई व्यक्ति उनकी सृष्टि की सत्यता का निश्चित रूप से पता नहीं लगा सकता। उसे सदैव आश्यर्च होता रहेगा कि मैं सचमुच किसी वस्तु को देख रहा हूँ या केवल यह सोच रहा हूँ कि मैं उसे देख रहा हूँ। ऐसी कल्पना को भगवान् की शरण में गये बिना सुलझाया नहीं जा सकता; अतएव यह व्यर्थ है। भगवान् के भक्तों को ऐसा विवाद पसन्द नहीं है क्योंकि वे वास्तव में आध्यात्मिक प्रबुद्धता की ओर अग्रसर हो रहे हैं और कृष्णभावनामृत के अति सुन्दर अनुभव से पूरी तरह सन्तुष्ट रहते हैं।

श्रीउद्धव उवाच
त्वत्तः परावृत्तधियः स्वकृतैः कर्मभिः प्रभो ।
उच्चावचान्यथा देहान्गृह्णन्ति विसृजन्ति च ॥ ३५॥
तन्ममाख्याहि गोविन्द दुर्विभाव्यमनात्मभिः ।
न ह्येतत्प्रायशो लोके विद्वांसः सन्ति वञ्चिताः ॥ ३६॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; त्वत्तः—आप से; परावृत्त—पराङ्मुख; धियः—जिनके मन; स्व-कृतैः—अपने द्वारा किये गये; कर्मभिः—सकाम कर्मों से; प्रभो—हे प्रभु; उच्च-अवचान्—उच्चतर तथा निम्नतर; यथा—जिस तरह; देहान्—भौतिक शरीरों को; गृह्णन्ति—स्वीकार करते हैं; विसृजन्ति—त्याग देते हैं; च—तथा; तत्—वह; मम—मुझसे; आख्याहि—कृपा करके बतलाइये; गोविन्द—हे गोविन्द; दुर्विभाव्यम्—समझना असम्भव; अनात्मभिः—जो बुद्धिमान नहीं हैं उनके द्वारा; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; एतत्—इसके विषय में; प्रायशः—अधिकांशतः; लोके—इस जगत में; विद्वांसः—जानने योग्य; सन्ति—हैं; वञ्चिताः—ठगेहुए (माया द्वारा)।.

श्री उद्धव ने कहा : हे परम स्वामी, सकाम कर्मियों की बुद्धि निश्चय ही आपसे विमुख होती है। अतः कृपा करके यह बतलायें कि ऐसे लोग किस तरह अपने भौतिकतावादी कार्यों से उच्च तथा निम्न शरीर ग्रहण करते हैं और फिर उनका त्याग करते हैं? हे गोविन्द, यह विषय मूर्खों की समझ में आने वाला नहीं है। वे इस जगत में माया से ठगे जाने पर भी इस तथ्य से अवगत नहीं हो पाते।

तात्पर्य : ईश-विज्ञान को जिसमें उन लोगों के निषेधात्मक परिणामों का वर्णन सम्मिलित है, जो भगवान् के साथ अपना शाश्वत सम्बन्ध भूल गए हैं, समझे बिना कोई बुद्धिमान नहीं माना जा सकता; ऐसे कई तथाकथित बुद्धिमान लोग हैं किन्तु वे अपने को अत्यन्त बुद्धिमान समझने पर भी भगवान् की परम बुद्धिमत्ता की शरण में नहीं जाते। इस तरह तीन गुणों के बीच अपने अपने पदों के अनुसार वे नाना प्रकार के दर्शन-सिद्धान्त गढ़ लेते हैं। किन्तु उसी माया से उत्पन्न दर्शन-सिद्धान्त से प्रकृति के प्रभाव से कोई बच नहीं सकता। मोक्ष तो पूर्ण ज्ञान से प्राप्त किया जाता है, जो सीधे भगवद्धाम से आता है। भगवान् कृष्ण तथा उनके अधिकार प्रदत्त प्रतिनिधियों से श्रवण करके मनुष्य आसानी से मोक्ष पा सकता है और भगवद्धाम जा सकता है।

श्रीभगवानुवाच
मनः कर्ममयं णृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम् ।
लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तते ॥ ३७॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; मनः—मन; कर्म-मयम्—कर्म द्वारा निर्मित; नृणाम्—मनुष्यों की; इन्द्रियैः—इन्द्रियों समेत; पञ्चभिः—पाँच; युतम्—संयुक्त; लोकात्—एक संसार से; लोकम्—दूसरे जगत को; प्रयाति—यात्रा करता है; अन्यः—पृथक्; आत्मा—आत्मा; तत्—वह मन; अनुवर्तते—अनुगमन करता है।.

भगवान् कृष्ण ने कहा : मनुष्यों का भौतिक मन सकाम कर्मों के फल से निर्मित होता है। वह पाँच इन्द्रियों के साथ एक शरीर से दूसरे शरीर में विचरण करता है। यद्यपि आत्मा मन से भिन्न है, किन्तु वह उसका अनुगमन करता है।

ध्यायन्मनोऽनु विषयान्दृष्टान्वानुश्रुतानथ ।
उद्यत्सीदत्कर्मतन्त्रं स्मृतिस्तदनु शाम्यति ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

ध्यायत्—ध्यान करता; मनः—मन; अनु—नियमित रूप से; विषयान्—इन्द्रिय-विषयों को; दृष्टान्—देखा हुआ; वा—अथवा; अनुश्रुतान्—वैदिक प्रमाण से सुना हुआ; अथ—फलस्वरूप; उद्यत्—उदय होता; सीदत्—विलीन करते; कर्म-तन्त्रम्—सकाम कर्मों के फलों से बँधा; स्मृतिः—स्मृति; तत् अनु—उसके बाद; शाम्यति—नष्ट हो जाता है।.

सकाम कर्मों के फलों से बँधा हुआ मन सदैव उन इन्द्रिय-विषयों का ध्यान करता है, जो इस जगत में दिखते हैं और उन विषयों का भी जो वैदिक विद्वानों से सुने जाते हैं। फलस्वरूप मन अपनी अनुभूति की वस्तुओं के साथ उत्पन्न और विनष्ट होता प्रतीत होता है। इस तरह भूत तथा भविष्य में अन्तर करने की इसकी क्षमता जाती रहती है।

तात्पर्य : यह प्रश्न किया जा सकता है कि किस तरह सूक्ष्म शरीर अथवा मन एक शरीर से अपना सम्बन्ध तोड़ कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। भौतिक शरीरों में इस तरह का प्रवेश तथा उनका परित्याग जन्म तथा मृत्यु कहलाते हैं। मनुष्य अपनी वर्तमान इन्द्रियों का उपयोग इस जगत की दृश्य वस्तुओं—सुन्दरियों, बड़े बड़े महलों इत्यादि—के बारे में ध्यान करने में करता है और इसी तरह वह वेदों में वर्णित स्वर्गलोक का दिवास्वप्न देखता है। मृत्यु होने पर मन ऐसी अनुभव की जाने वाली वस्तुओं से विलग होकर नवीन शरीर में प्रवेश करता है जहाँ उसे नये इन्द्रिय-विषयों का अनुभव होता है। जब मन पूरी तरह बदल जाता है, तो उसकी पूर्व मनोवृत्ति समाप्त हो जाती है और जिस तरह नया मन बनता है उसे भी भूल जाता है यद्यपि मन वही होता है किन्तु भिन्न तरीके से अनुभव करता है।

बद्धजीव भौतिक अनुभवों के निरन्तर प्रवाह से जिसमें प्रत्यक्ष अनुभूति तथा इस जगत के विषयों का अमूर्त चिन्तन मिला रहता है, अभिभूत होता है। इस तरह वह ईश्वर से अपने सम्बन्ध की दिव्य स्मृति को भुला बैठता है। ज्योंही वह अपनी पहचान इस जगत से करने लगता है, त्योंही वह अपनी नित्य पहचान भूल जाता है और माया द्वारा उत्पन्न मिथ्या अहंकार के वशीभूत हो जाता है।

विषयाभिनिवेशेन नात्मानं यत्स्मरेत्पुनः ।
जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

विषय—नवीन अनुभूति के विषयों में; अभिनिवेशेन—तल्लीनता से; न—नहीं; आत्मानम्—अपने पूर्व आत्मा को; यत्—जिस स्थिति में; स्मरेत्—स्मरण करता है; पुनः—और आगे; जन्तोः—जीव का; वै—निस्सन्देह; कस्यचित् हेतोः—किसी न किसी बहाने; मृत्युः—मृत्यु नामक; अत्यन्त—पूर्ण; विस्मृतिः—विस्मरण।

जब जीव वर्तमान शरीर से दूसरे शरीर में जाता है, जो उसके अपने कर्म से उत्पन्न होता है, तो वह नये शरीर की आनन्दप्रद तथा पीड़ादायक अनुभूतियों में लीन हो जाता है और पहले वाले शरीर के अनुभव को पूरी तरह भूल जाता है। इस तरह से पूर्व भौतिक पहचान की पूर्ण विस्मृति, जो किसी न किसी बहाने उत्पन्न होती है, मृत्यु कहलाती है।

तात्पर्य : अपने कर्म के अनुसार मनुष्य सुन्दर, धनी या शक्तिशाली शरीर प्राप्त कर सकता है या फिर अत्यन्त गर्हित जीवन-दशा को प्राप्त हो सकता है। जीव स्वर्ग या नरक में जन्म लेकर अपने अहंकार की पहचान इस नये शरीर से पूरी तरह करने लगता है और नए शरीर के हर्ष, भय, ऐश्वर्य या कष्ट में लीन हो जाने से पहले वाले शरीर के अनुभवों को पूरी तरह भूल जाता है। मृत्यु तब होती है जब भौतिक शरीर का निर्धारित कर्म समाप्त हो जाता है। चूँकि शरीर विशेष का कर्म समाप्त हो जाता है, अतएव वह मन पर प्रभाव नहीं डाल सकता। इस तरह मनुष्य अपने पहले के शरीर को भूल जाता है। नया शरीर प्रकृति द्वारा सृजित होता है ताकि मनुष्य अनुभव कर सके कि उसका कर्म अभी भी प्रभावशाली है। फलस्वरूप मनुष्य की सारी चेतना उसके वर्तमान शरीर में लीन हो जाती है, जिससे वह अपने विगत कर्मों के फलों का पूरी तरह अनुभव कर सके। चूँकि जीव अपनी मिथ्या पहचान शरीर से करता है, अतएव शारीरिक मृत्यु को आत्मा की मृत्यु मान लिया जाता है। किन्तु वास्तव में आत्मा शाश्वत है, जिसका न तो सृजन होता है, न संहार। आत्म-साक्षात्कार का यह विश्लेषणात्मक ज्ञान कृष्णभावनामृत में सहज ही ज्ञेय बन जाता है।

जन्म त्वात्मतया पुंसः सर्वभावेन भूरिद ।
विषयस्वीकृतिं प्राहुर्यथा स्वप्नमनोरथः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

जन्म—जन्म; तु—तथा; आत्मतया—अपने साथ पहचान से; पुंसः—पुरुष की; सर्व-भावेन—पूरी तरह; भूरि-द—हे अत्यन्त दानी उद्धव; विषय—शरीर का; स्वी-कृतिम्—स्वीकृति; प्राहुः—कहलाती है; यथा—जिस तरह; स्वप्न—सपना; मनः-रथः—या मानसिक विलास।

हे परम दानी उद्धव, जिसे जन्म कहा जाता है, वह नवीन शरीर के साथ मनुष्य की पूर्ण पहचान ही है। मनुष्य नया शरीर उसी तरह स्वीकार करता है, जिस तरह कोई स्वप्न के अनुभव

या मनोविलास को सत्य मान लेता है।

तात्पर्य : अपने शरीर के साथ पहचान अपने मित्रों या सम्बन्धियों के लिए अनुभव किये जाने वाले स्नेह तथा आकर्षण को पार कर जाती है। *सर्वभावेन* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य भौतिक शरीर को पूरी तरह स्व मान लेता है, जिस तरह स्वप्न के अनुभव को सत्य मान लिया जाता है। व्यावहारिक कर्म के बिना कोरी कल्पना दिवास्वप्न कहलाती है और सोते समय जो मनोकल्पना उत्पन्न होती है, वह स्वप्न कहलाती है। अपने शरीर से अपनी पहचान तथा शारीरिक सम्बन्धों को आँख मूँद कर स्थायी मान बैठना एक लम्बा स्वप्न या मनोविलास है, जिसमें मनुष्य अपने को भगवान् से पृथक् मानता है। इसलिए जन्म किसी नये जीव की उत्पत्ति का सूचक नहीं होता अपितु आत्मा द्वारा नये भौतिक शरीर की आँख मूँद कर स्वीकृति है।

स्वप्नं मनोरथं चेत्थं प्राक्तनं न स्मरत्यसौ ।
तत्र पूर्वमिवात्मानमपूर्वम्चानुपश्यति ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

स्वप्नम्—स्वप्न; मनः-रथम्—दिवास्वप्न; च—तथा; इत्थम्—इस प्रकार; प्राक्तनम्—पूर्ववर्ती; न स्मरति—स्मरण नहीं करता; असौ—वह; तत्र—उस (वर्तमान शरीर) में; पूर्वम्—पूर्ववर्ती, पिछला; इव—मानो; आत्मानम्—स्वयं; अपूर्वम्—जिसका भूतकाल न हो; च—तथा; अनुपश्यति—देखता है।

जिस प्रकार मनुष्य स्वप्न या दिवास्वप्न का अनुभव करते हुए अपने पहले के स्वप्नों या दिवास्वप्नों को स्मरण नहीं रख पाता, उसी तरह अपने वर्तमान शरीर में स्थित मनुष्य इसके पूर्व विद्यमान होने पर भी यही सोचता है कि वह अभी हाल ही में उत्पन्न हुआ है।

तात्पर्य : यहाँ पर आपत्ति की जा सकती है कि कभी कभी स्वप्न का अनुभव करते हुए मनुष्य अपना पिछला स्वप्न याद रखता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इसका यह उत्तर देते हैं कि *जातिस्मर* की योगशक्ति से मनुष्य अपने पूर्व शरीर को याद रख सकता है। और जैसाकि सर्वविदति है "अपवाद से नियम की पुष्टि होती है"। सामान्यतया बद्धजीवों को अपना विगत अस्तित्व स्मरण नहीं रहता। वे तो यही सोचते हैं "मैं छह वर्ष का हो गया" "मैं तीस वर्ष का हूँ" तथा "मैं इसके पूर्व नहीं था"। ऐसे भौतिक अज्ञान में मनुष्य आत्मा की वास्तवकि स्थिति को समझ नहीं पाता।

इन्द्रियायनसृष्टयेदं त्रैविध्यं भाति वस्तुनि ।

बहिरन्तर्भिदाहेतुर्जनोऽसज्जनकृद्यथा ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रिय-अयन—इन्द्रियों के वास (मन) द्वारा; सृष्ट्या—सृष्टि होने से (नये शरीर के साथ पहचान से); इदम्—यह; त्रै-विध्यम्—तीन प्रकार का (उच्च, मध्य तथा निम्न श्रेणी का); भाति—प्रकट होता है; वस्तुनि—वास्तविकता (आत्मा) में; बहि:—बाह्य; अन्त:—तथा आन्तरिक; भिदा—अन्तरों का; हेतु:—कारण; जन:—व्यक्ति; असत्-जन—बुरे व्यक्ति का; कृत्—जनक; यथा—जिस तरह।.

चूँकि मन, जो कि इन्द्रियों का आश्रय है, नवीन शरीर के साथ अपनी पहचान कर लेता है अतएव उच्च, मध्यम तथा निम्न—ये तीन भौतिक श्रेणियाँ ऐसी प्रतीत होने लगती हैं मानो आत्मा की असलियत के भीतर उपस्थित हों। इस तरह आत्मा बाह्य तथा अन्त: द्वैत उत्पन्न करता है, जिस तरह मनुष्य कुपुत्र को जन्म दे।

तात्पर्य : विभिन्न शरीरों की सम्पत्ति, सौन्दर्य, बल, बुद्धि, यश तथा वैराग्य को भौतिक अवस्था के अनुसार उत्तम, सामान्य या निकृष्ट माना जाता है। आत्मा किसी शरीर को प्राप्त करता है और अपने को तथा अन्यों को उनकी भौतिक अवस्था के अनुसार उच्च, मध्यम या निम्न श्रेणी का मानता है। वस्तुत: शाश्वत आत्मा भौतिक द्वैत के परे होता है लेकिन वह भूलवश भौतिक अवस्था को अपना मान बैठता है। *असज्जन कृद् यथा* पद महत्त्वपूर्ण है। स्वभाव से पिता शान्त हो सकता है किन्तु यदि उसका पुत्र किसी विपत्ति में फँस जाता है, तो पिता को बाध्य होकर उसे छुड़ाना पड़ता है और अपने पुत्र के शत्रुओं को परिवार का शत्रु मानना पड़ता है। इस तरह कुपुत्र अपने पिता को झंझट में डाल देता है। इसी प्रकार से आत्मा के समक्ष कोई अपनी स्वाभाविक समस्या नहीं रहती, किन्तु शरीर के साथ झूठी पहचान करने से आत्मा शरीर के सुख-दुख में फँस जाता है। इस श्लोक के साथ भगवान् शरीर तथा आत्मा विषयक अपनी व्याख्या का सार-समाहार करते हैं।

नित्यदा ह्यङ्ग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च ।
कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न दृश्यते ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

नित्यदा—निरन्तर; हि—निस्सन्देह; अङ्ग—हे उद्धव; भूतानि—सृजित शरीर; भवन्ति—उत्पन्न होते हैं; न भवन्ति—नहीं रहते; च—तथा; कालेन—समय द्वारा; अलक्ष्य—अदृश्य; वेगेन—वेग से; सूक्ष्मत्वात्—अत्यन्त सूक्ष्म होने से; तत्—वह; न दृश्यते—नहीं दिखलाई पड़ती।.

हे उद्धव, भौतिक शरीर काल के अदृश्य तीव्र वेग से निरन्तर उत्पत्ति तथा विनाश को प्राप्त होते रहते हैं। सूक्ष्म प्रकृति होने से काल को कोई देख नहीं पाता।

यथार्चिषां स्त्रोतसां च फलानां वा वनस्पतेः ।
तथैव सर्वभूतानां वयोऽवस्थादयः कृताः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अर्चिषाम्—दीपक की लौ; स्त्रोतसाम्—नदी की धाराओं के; च—तथा; फलानाम्—फलों के; वा—अथवा; वनस्पतेः—वृक्ष के; तथा—इस तरह; एव—निश्चय ही; सर्व-भूतानाम्—सारे शरीरों के; वयः—विभिन्न आयु के; अवस्था—अवस्था; आदयः—इत्यादि; कृताः—उत्पन्न की जाती हैं।

समस्त भौतिक शरीरों के रूपान्तर की विभिन्न अवस्थाएँ उसी तरह बदलती रहती हैं जिस तरह दीपक की लौ, नदी की धारा या वृक्ष के फल बदलते रहते हैं।

तात्पर्य : दीपक की लौ कभी तेज होती है, तो कभी मन्द होती है और अन्त में बुझ जाती है। बहती हुई नदी की लहरें कभी उठती और कभी गिरती हैं जिससे असंख्य आकार तथा नक्शे बनते हैं। वृक्ष में फल लगते हैं, बढ़ते हैं, पकते हैं, मीठे होते हैं और फिर सड़ कर नष्ट हो जाते हैं।इसी तह मनुष्य यह समझ सकता है कि उसके शरीर में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं और शरीर निश्चय ही बुढ़ापे, रोग तथा मृत्यु को प्राप्त होता रहता है। जीवन के विभिन्न कालों में शरीर में संभोग शक्ति, शारीरिक शक्ति, इच्छा, ज्ञान इत्यादि प्रकट होते हैं। ज्यों ज्यों शरीर पुराना पड़ता है, शारीरिक शक्ति घटती है किन्तु शरीर के इन परिवर्तनों के बावजूद भी ज्ञान में बढ़ोतरी हो सकती है।

भौतिक जन्म तथा मृत्यु एक निश्चित काल खण्ड में होते हैं। भौतिक वस्तु का जन्म, उत्पत्ति या उत्पादन तुरन्त ही भौतिक जगत में इस सूक्ष्म काल खण्ड से अपने को जोड़ लेता है। इस तरह इसका विनाश या मृत्यु अवश्यम्भावी है। काल का अप्रतिहत वेग इतनी सूक्ष्मता से आगे बढ़ता है कि केवल अत्यन्त बुद्धिमान ही इसे देख पाता है। जिस तरह दीपक की लौ धीरे धीरे मन्द पड़ती जाती है, जिस तरह गतिमान धाराएँ नदी के भीतर बहती हैं अथवा जिस तरह वृक्ष में फल धीरे धीरे पक जाता है, उसी तरह भौतिक शरीर अपरिहार्य मृत्यु के निकट पहुँचता रहता है। अतएव अपरिहार्य क्षणभंगुर शरीर और नित्य, अपरिवर्तनशील आत्मा में भ्रम नहीं होना चाहिए।

सोऽयं दीपोऽर्चिषां यद्वत्स्त्रोतसां तदिदं जलम् ।
सोऽयं पुमानिति नृणां मृषा गीर्धीर्मृषायुषाम् ॥ ४५॥

शब्दार्थ

सः—यह; अयम्—वही; दीपः—प्रकाश; अर्चिषाम्—दीपक की ज्योति; यद्वत्—जिस तरह; स्त्रोतसाम्—नदी के भीतर बहने वाली धाराओं के; तत्—वह; इदम्—वही; जलम्—जल; सः—यह; अयम्—वही; पुमान्—व्यक्ति; इति—इस प्रकार; नृणाम्—मनुष्यों के; मृषा—झूठा; गीः—कथन; धीः—विचार; मृषा-आयुषाम्—व्यर्थ जीवन बिताने वालों के।.

यद्यपि दीपक-प्रकाश में प्रकाश की असंख्य किरणों का सृजन, रूपान्तर और क्षय होता रहता है, किन्तु मोहग्रस्त व्यक्ति जब क्षण-भर के लिए इस प्रकाश को देखता है, तो वह यह झूठी बात कहेगा, ''यह दीपक का वही प्रकाश है।'' जिस तरह प्रवाहित नदी के जल को जो निरन्तर बह कर आगे बढ़ता जाता है, किसी एक बिंदु को देख कर कोई यह मिथ्या कहे, ''यह नदी का वही जल है।'' इसी तरह यद्यपि मनुष्य का शरीर निरन्तर परिवर्तित होता रहता है, किन्तु जो लोग अपने जीवन को व्यर्थ गँवाते हैं, वे झूठे ही यह सोचते और कहते हैं कि शरीर की प्रत्येक विशेष अवस्था उस व्यक्ति की असली पहचान है।

तात्पर्य : यद्यपि मनुष्य कह सकता है कि, ''यह दीपक का वही प्रकाश है'' किन्तु प्रतिक्षण असंख्य प्रकाश किरणें उत्पन्न होतीं, परिवर्तित होतीं और नष्ट होती रहती हैं। इसी तरह यद्यपि मनुष्य यह कह सकता है नदी का जल वही है किन्तु विभिन्न जल-अणु निरन्तर बहते जाते हैं। इसी तरह जब कोई किसी बालक से मिलता है, तो वह शरीर की इस क्षणिक अवस्था को उस व्यक्ति की असली पहचान उस बालक के रूप में मान लेता है। इसी तरह वृद्ध शरीर को वह वृद्ध पुरुष मान बैठता है। किन्तु तथ्य तो यह है कि मनुष्य का शरीर दीपक की लौ अथवा नदी के प्रवाह की तरह प्रकृति के जो भगवान् की शक्ति है, गुणों का रूपान्तर मात्र है। पुरुष की असली पहचान आत्मा है, जो कि कृष्ण का अंश है किन्तु इस श्लोक में भगवान् कृष्ण यह सिद्ध करते हैं कि बद्धजीव काल की सूक्ष्म गति को देखने या समझने में अक्षम है। मनुष्य भौतिक चेतना की स्थूल दृष्टि से कालरूपी भगवान् द्वारा प्रेरित जगत के सूक्ष्म खण्ड को निश्चित नहीं कर पाता। इस श्लोक का *मृषायुषाम्* शब्द उनको सूचित करता है, जो भगवान् के आदेशों को समझे बिना अपना समय अज्ञान में नष्ट करते हैं। ऐसे व्यक्ति शरीर की किसी भी अवस्था को शरीर के भीतर स्थित आत्मा की सही पहचान मान बैठते हैं। किन्तु क्योंकि आत्मा में भौतिक परिवर्तन नहीं होते, अत: जब वह आत्मा भगवान् की प्रेमाभक्ति के नित्य विविध आनन्द में अपने को लगाता है, तो उसे अज्ञान तथा कष्ट का और अधिक सामना नहीं करना पड़ता।

मा स्वस्य कर्मबीजेन जायते सोऽप्ययं पुमान् ।

म्रियते वामरो भ्रान्त्या यथाग्निर्दारुसंयुतः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

मा—मत; स्वस्य—अपने ही; कर्म-बीजेन—कर्म के बीज से; जायते—जन्म लेता है; सः—वह; अपि—निस्सन्देह; अयम्—यह; पुमान्—पुरुष; म्रियते—मरता है; वा—अथवा; अमरः—अमर; भ्रान्त्या—भ्रान्ति के कारण; यथा—जिस तरह; अग्निः—अग्नि; दारु—काष्ठ से; संयुतः—जुड़ी हुई।

मनुष्य न तो पूर्वकर्म के बीज से जन्म लेता है न ही अमर होने के कारण मरता है। मोह के कारण जीव जन्म लेता तथा मरता प्रतीत होता है, जिस तरह काष्ठ के संसर्ग से अग्नि जलती और फिर बुझती प्रतीत होती है।

तात्पर्य : यद्यपि इस संसार में अग्नि शाश्वत विद्यमान है किन्तु किसी लकड़ी के टुकड़े विशेष के संसर्ग में वह कभी दिखती है और कभी बुझती है। इसी तरह जीव शाश्वत है किन्तु विशिष्ट शरीर के सन्दर्भ में वह जन्म लेता और मरता है। इस तरह कर्मफल जीव पर भ्रामक कष्ट अथवा सुख लादते हैं किन्तु वे जीव के नित्य स्वभाव को अपने आप बदल लेने पर विवश नहीं करते। दूसरे शब्दों में, कर्म मोह के चक्र को सूचित करता है, जिसमें एक भ्रामक कर्म से दूसरे का जन्म होता है। कृष्णभावनामृत जीव को भगवान् की प्रेमाभक्ति के दिव्य कार्यों में लगाकर कर्म के इस चक्र को रोक देता है। ऐसे कृष्णभावनामृत से मनुष्य कर्मफल की मोहमयी जंजीर से बच सकता है।

निषेकगर्भजन्मानि बाल्यकौमारयौवनम् ।
वयोमध्यं जरा मृत्युरित्यवस्थास्तनोर्नव ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

निषेक—गर्भस्थापन; गर्भ—गर्भवृद्धि; जन्मानि—तथा जन्म; बाल्य—बाल्यकाल, बचपन; कौमार—कुमार अवस्था; यौवनम्—तथा युवावस्था; वयः-मध्यम्—बीच की (अधेड़) आयु; जरा—बुढ़ापा; मृत्युः—मृत्यु; इति—इस प्रकार; अवस्थाः—अवस्थाएँ; तनोः—शरीर की; नव—नौ।

गर्भस्थापन, गर्भवृद्धि, जन्म, बाल्यावस्था, कुमारावस्था, युवावस्था, अधेड़ आयु, बुढ़ापा तथा मृत्यु—ये शरीर की नौ अवस्थाएँ हैं।

एता मनोरथमयीर्हान्यस्योच्चावचास्तनूः ।
गुणसङ्गादुपादत्ते क्वचित्कश्चिज्जहाति च ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

एताः—ये; मनः-रथः-मयीः—मन के चिंतन द्वारा प्राप्त; ह—निश्चय ही; अन्यस्य—(आत्मा से पृथक्) शरीर का; उच्च—बड़ा; अवचाः—तथा छोटा; तनूः—शारीरिक अवस्था; गुण-सङ्गात्—प्रकृति के गुणों की संगति करने से; उपादत्ते—स्वीकार करता है; क्वचित्—कभी कभी; कश्चित्—कोई; जहाति—त्याग देता है; च—तथा।

यद्यपि भौतिक शरीर आत्मा से भिन्न है, किन्तु भौतिक संगति के कारण उत्पन्न अज्ञान से मनुष्य झूठे ही अपनी पहचान उच्च तथा निम्न शारीरिक अवस्थाओं से करता है। कभी कभी भाग्यशाली व्यक्ति ऐसी मनोकल्पना को त्यागने में समर्थ होता है।

तात्पर्य : जिस व्यक्ति को भगवान् की विशेष कृपा प्राप्त होती है, वह शारीरिक पहचान की मनोकल्पना को त्यागने में समर्थ होता है। इस तरह उसे जन्म-मृत्यु के चक्र से छूट निकलने का अवसर प्राप्त हो जाता है।

आत्मनः पितृपुत्राभ्यामनुमेयौ भवाप्ययौ ।
न भवाप्ययवस्तूनामभिज्ञो द्वयलक्षणः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

आत्मनः—अपना ही; पितृ—पिता या पूर्वजों; पुत्राभ्याम्—तथा पुत्र से; अनुमेयौ—यह अनुमान लगाया जा सकता है; भव—जन्म; अप्ययौ—तथा मृत्यु; न—नहीं है; भव-अप्यय-वस्तूनाम्—जन्म तथा मृत्यु के अधीन सारी वस्तुओं का; अभिज्ञः—भलीभाँति जानने वाला; द्वय—इन द्वैतों से; लक्षणः—लक्षित होता है।.

अपने पिता या पितामह की मृत्यु से मनुष्य अपनी मृत्यु का अनुमान लगा सकता है और अपने पुत्र के जन्म से वह अपने जन्म की अवस्था समझ सकता है। इस तरह जो व्यक्ति यथार्थरूप से भौतिक शरीरों की उत्पत्ति को समझ लेता है, वह इन द्वैतों में नहीं पड़ता।

तात्पर्य : भगवान् ने भौतिक शरीर की गर्भाधान, गर्भवृद्धि तथा जन्म से लेकर नौ अवस्थाओं का वर्णन किया है। यह तर्क किया जा सकता है कि जीव को अपने माता के गर्भ में रहने, या अपने जन्म तथा शिशुपने का स्मरण नहीं रह सकता। इसीलिए भगवान् यहाँ पर कहते हैं कि मनुष्य अपने पुत्र का अध्ययन करके शरीर की इन अवस्थाओं का अनुभव कर सकता है। इसी तरह अपने पिता, पितामह या प्रपितामह की मृत्यु के अनुभव से यह निश्चित प्रमाण मिलता है कि भौतिक शरीर मरता है यद्यपि मनुष्य सदा जीवित रहने की आशा कर सकता है। इसीलिए गम्भीर व्यक्ति आत्मा को शाश्वत मान कर और क्षणिक, अविश्वसनीय शरीर की झूठी पहचान त्याग कर भगवान् की भक्ति की शरण ग्रहण करता है। इस तरह वह जन्म-मृत्यु के नकली आरोप से बच सकता है।

तरोर्बीजविपाकाभ्यां यो विद्वाञ्जन्मसंयमौ ।
तरोर्विलक्षणो द्रष्टा एवं द्रष्टा तनोः पृथक् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

तरोः—वृक्ष का; बीज—बीज; विपाकाभ्याम्—परिपक्वता; यः—जो; विद्वान्—ज्ञानी; जन्म—जन्म; संयमौ—तथा मृत्यु के; तरोः—वृक्ष से; विलक्षणः—स्पष्ट; द्रष्टा—साक्षी; एवम्—इसी तरह से; द्रष्टा—साक्षी; तनोः—भौतिक शरीर का; पृठक्—पृथक् है।.

जो व्यक्ति बीज से वृक्ष को जन्म लेते देखता है और परिपक्वता प्राप्त करने पर उस वृक्ष की मृत्यु को भी देखता है, वह निश्चित रूप से वृक्ष से पृथक् रह कर स्पष्ट साक्षी बन जाता है। इसी तरह भौतिक शरीर के जन्म तथा मृत्यु का साक्षी शरीर से पृथक् रहता है।

तात्पर्य : वृक्षों के सन्दर्भ में *विपाक* अन्तिम परिवर्तन को सूचित करता है, जिसे मृत्यु कहते हैं। धान जैसे अन्य पौधों के प्रसंग में *विपाक्* परिपक्वता का सूचक है और उसमें भी मृत्यु होती है। इस तरह सामान्य अवलोकन द्वारा मनुष्य अपने शरीर की वास्तविक स्थिति तथा दिव्य द्रष्टा के रूप में अपनी स्थिति को समझ सकता है।

प्रकृतेरेवमात्मानमविविच्याबुधः पुमान् ।
तत्त्वेन स्पर्शसम्मूढः संसारं प्रतिपद्यते ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

प्रकृतेः—भौतिक प्रकृति से; एवम्—इस प्रकार; आत्मानम्—आत्मा; अविविच्य—भेद न कर पाने से; अबुधः—अज्ञानी; पुमान्—पुरुष; तत्त्वेन—(भौतिक वस्तुओं को) असली समझ कर; स्पर्श—स्पर्श से; सम्मूढः—पूर्णतया मोहित; संसारम्—भव-चक्र; प्रतिपद्यते—प्राप्त करता है।.

अज्ञानी व्यक्ति अपने को प्रकृति से अलग न समझ पाने से प्रकृति को सत्य समझता है। इसके सम्पर्क से वह पूर्णतया मोहित हो जाता है और संसार-चक्र में प्रवेश करता है।

तात्पर्य : इसी तरह का श्लोक *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र (१.७.५) आ चुका है—

यया सम्मोहितो जीव आत्मानम् त्रिगुणात्मकम्।

परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते॥

‘‘यद्यपि जीव तीन गुणों से परे है, किन्तु इस महामाया के कारण वह अपने को भौतिक उपज मानता है और इसीलिए भौतिक कष्टों के फल भोगता है।’’

सत्त्वसङ्गादृषीन्देवान्रजसासुरमानुषान् ।
तमसा भूततिर्यक्त्वं भ्रामितो याति कर्मभिः ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

सत्त्व-सङ्गात्—सतोगुण के साथ से; ऋषीन्—ऋषियों को; देवान्—देवताओं को; रजसा—रजोगुण के द्वारा; असुर—असुरों को; मानुषान्—तथा मनुष्यों को; तमसा—तमोगुण द्वारा; भूत—भूतप्रेतों को; तिर्यक्त्वम्—पशु-जगत को; भ्रामितः—घुमाया गया; याति—जाता है; कर्मभिः—अपने सकाम कर्मों के कारण।.

अपने सकाम कर्म के कारण घूमने के लिए बाध्य हुआ, बद्ध आत्मा सतोगुण के सम्पर्क से ऋषियों या देवताओं के बीच जन्म लेता है। रजोगुण के सम्पर्क से वह असुर या मनुष्य बनता है और तमोगुण की संगति से वह भूतप्रेत या पशु-जगत में जन्म लेता है।

तात्पर्य : *तिर्यक्त्वम्* का अर्थ है ''पशुत्व'' जिसमें सभी निम्न जीव योनियाँ जैसे जंगली जानवर, पक्षी, कीट, मछली, पौधे सम्मिलित हैं।

नृत्यतो गायतः पश्यन्यथैवानुकरोति तान् ।
एवं बुद्धिगुणान्पश्यन्नीहोऽप्यनुकार्यते ॥५३॥

शब्दार्थ

नृत्यतः—नाचते हुए पुरुष; गायतः—तथा गाते हुए; पश्यन्—देखते हुए; यथा—जिस तरह; एव—निस्सन्देह; अनुकरोति—अनुकरण करता है; तान्—उनको; एवम्—इस तरह; बुद्धि—बुद्धि का; गुणान्—अर्जित गुणों को; पश्यन्—देखते हुए; अनीहः—स्वयं कार्य में रत न होकर; अपि—फिर भी; अनुकार्यते—अनुकरण कराया जाता है।.

जिस तरह नाचते तथा गाते हुए व्यक्तियों को देख कर कोई व्यक्ति उनका अनुकरण करता है, उसी तरह आत्मा सकाम कर्मों का कर्ता न होते हुए भी, भौतिक बुद्धि द्वारा मोहित हो जाता है और उसके गुणों का अनुकरण करने के लिए बाध्य हो जाता है।

तात्पर्य : कभी कभी लोग पेशेवर गवैयों तथा नर्तकों पर मुग्ध होकर उनकी तान तथा लयों का उनकी रोमांचक, विनोदपूर्ण एवं शौर्ययुक्त भावनाओं के साथ अपने मनों में अनुकरण करते हैं। वे रेडिओं में सुनाई पड़ने वाले गीत गाते हैं और टेलीविजन या चित्रपटों या रंगमंचों पर देखे गयेनृत्यों तथा नाटकीय क्रियाकलापों का अनुकरण करते हैं और इस तरह वे कलाकार के भावों तथा कला तक पहुँचते हैं। इसी तरह बद्ध आत्मा भौतिक मन तथा बुद्धि के मनोरथों पर मुग्ध होता है और वे उसे आश्वस्त करते हैं कि वह भौतिक जगत का भोक्ता बन सकता है। इस तरह बद्ध आत्मा भौतिक शरीर से पृथक् होते हुए तथा कभी भी उसके कर्मों का कर्ता न होते हुए भी अपने शरीर को भौतिक कार्यों में लगाता है, जिससे वह जन्म-मृत्यु के चक्कर में फँस जाता है। मनुष्य को चाहिए कि भौतिक बुद्धि की अवैध योजनाओं को स्वीकार न करे प्रत्युत वह भगवान् की सेवा में अपने को पूर्णतया लगाये।

यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव ।
चक्षुसा भ्राम्यमाणेन दृश्यते भ्रमतीव भूः ॥ ५४ ॥
यथा मनोरथधियो विषयानुभवो मृषा ।
स्वप्नदृष्टाश्च दाशार्ह तथा संसार आत्मनः ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अम्भसा—जल द्वारा; प्रचलता—गतिवान्, चलायमान; तरवः—वृक्ष; अपि—निस्सन्देह; चलाः—चलते हुए, गतिवान्; इव—; चक्षुषा—; भ्राम्यमाणेन—; दृश्यते—; भ्रमती—; इव—; भूः—; यथा—; मनः-रथ—; धियः—; विषय—; अनुभवः—; मृषा—; स्वप्न-दृष्टः—; च—; दाशार्ह—; तथा—; संसारः—; आत्मनः—.

हे दशार्ह वंशज, आत्मा का भौतिक जीवन, इन्द्रियतृप्ति का उसका अनुभव वास्तव में उसी तरह झूठा होता है, जिस तरह क्षुब्ध जल में प्रतिबिम्बित वृक्षों का हिलना-डुलना या आँखों को चारों ओर घुमाने से पृथ्वी का घूमना या कल्पना अथवा स्वप्न का जगत होता है।

तात्पर्य : जब क्षुब्ध जल में वृक्षों का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तो वे हिलते प्रतीत होते हैं। इसी तरह जब कोई व्यक्ति चल रही नाव में बैठा होता है, तो किनारे के वृक्ष चलते हुए लगते हैं। जब हवा चलने से पानी में लहरें उत्पन्न होती हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि जल गतिशील है, किन्तु वास्तव में वह हवा द्वारा गतिशील होता है। इस भौतिक जीवन में बद्ध आत्मा कोई कर्म नहीं करता, प्रत्युत भौतिक शरीर, मोहग्रस्त जीव की अनुमति से, प्रकृति के तीन गुणों द्वारा गतिशील होता है। मनुष्य इस बाह्य गति को अपने ऊपर आरोपित करके स्वयं को नाचता, गाता, दौड़ता, मरता, विजय करता मानता है यद्यपि ये कार्य प्रकृति के गुणों के साथ बाह्य शरीर की अन्योन्य क्रियाएँ होते हैं।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

अर्थे—वास्तव में; हि—निश्चय ही; अविद्यमाने—न होते हुए; अपि—भी; संसृतिः—जगत; न निवर्तते—रुकता नहीं; ध्यायतः—ध्यान करता; विषयान्—इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं का; अस्य—उसका; स्वप्ने—स्वप्न में; अनर्थ—अवांछित वस्तु का; आगमः—आना; यथा—जिस तरह।.

जो व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति पर अपना ध्यान जमाये रखता है, उसके लिए भौतिक जीवन वास्तविक न होते हुए भी उसी तरह हट नहीं पाता जिस तरह स्वप्न के अरुचिकर अनुभव हटाये नहीं हटते।

तात्पर्य : कोई यह आक्षेप कर सकता है कि जब भगवान् कृष्ण इस बात पर जोर दे रहे हैं कि जीवन मिथ्या है, तो फिर कोई इसे रोकने के लिए प्रयास क्यों करे? इसीलिए भगवान् बतलाते हैं कि

भौतिक जीवन यद्यपि यथार्थ नहीं है किन्तु जो इन्द्रियतृप्ति में लीन रहता है उसके लिए वह हठपूर्वक चलता रहता है, जिस तरह निद्रा में मग्न रहने वाले का भयानक स्वप्न चलता रहता है। *अविद्यमान* शब्द का अर्थ यह है कि भौतिक जीवन ऐसी मनोकल्पना पर आधारित होता है, जिसमें मनुष्य सोचता है कि, ''मैं पुरुष हूँ'' ''मैं स्त्री हूँ'' ''मैं डाक्टर हूँ'' ''मैं सीनेटर हूँ'' ''मैं झाड़ू लगाने वाला हूँ'' आदि आदि। बद्ध आत्मा शरीर के साथ काल्पनिक पहचान के बल पर बड़े ही उत्साह के साथ कार्य करता जाता है। इस तरह यद्यपि आत्मा विद्यमान होता है तथा शरीर भी विद्यमान रहता है, किन्तु शरीर के साथ झूठी पहचान का अस्तित्व नहीं रहता। मिथ्या विचार पर आधारित भौतिक जीवन का वास्तविक अस्तित्व नहीं होता।

स्वप्न से जगने पर मनुष्य की स्मृति में स्वप्न की हल्की छाया बनी रह सकती है। इसी तरह भगवान् की भक्ति में लगने पर कभी कभी मनुष्य पापमय जीवन की हल्की छाया से क्षुब्ध हो सकता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि भगवान् द्वारा श्री उद्धव को दिये गये उपदेशों को सुन कर कृष्णभावनामृत में पुष्ट बने।

तस्मादुद्धव मा भुङ्क्ष्व विषयानसदिन्द्रियैः ।
आत्माग्रहणनिर्भातं पश्य वैकल्पिकं भ्रमम् ॥५७॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; **उद्धव**—हे उद्धव; **मा भुङ्क्ष्व**—मत भोग करो; **विषयान्**—इन्द्रिय-विषयों को; **असत्**—अशुद्ध; **इन्द्रियैः**—इन्द्रियों द्वारा; **आत्म**—आत्मा का; **अग्रहण**—अनुभव करने की अक्षमता; **निर्भातम्**—जिसमेंप्रकट है; **पश्य**—इसे देखो; **वैकल्पिकम्**—भौतिक द्वैत पर आधारित; **भ्रमम्**—मोह, भ्रम।

इसलिए हे उद्धव, तुम भौतिक इन्द्रियों से इन्द्रियतृप्ति भोगने का प्रयास मत करो। यह देखो किस तरह भौतिक द्वैत पर आधारित भ्रम मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार से रोकता है।

तात्पर्य : हर वस्तु भगवान् की शक्ति तथा सम्पत्ति है और भगवान् की प्रेमाभक्ति में प्रयुक्त होने के लिए है। भौतिक वस्तुओं को भगवान् से पृथक् देखना और उन्हें अपने अधिकार में करके भोगने के लिए समझना *वैकल्पिकं भ्रमम्* कहलाता है। अपने भोग की वस्तु यथा भोजन, वस्त्र, आवास या वाहन का चुनाव करते समय मनुष्य उस प्राप्तव्य वस्तु के गुणों पर विचार करता है। फलस्वरूप भौतिक जीवन में मनुष्य निरन्तर चिन्तामग्न रहता है और अपने निजी आनन्द के लिए सर्वोत्तम इन्द्रियतृप्ति प्राप्त करने का प्रयास करता है। किन्तु यदि वह हर वस्तु को भगवान् की सम्पत्ति मानता है, तो उसे

लगेगा कि हर वस्तु भगवान् की प्रसन्नता के लिए बनी है। उसे कोई निजी चिन्ता नहीं रहेगी क्योंकि तब वह भगवान् की प्रेमाभक्ति मात्र में लगे रहने में तुष्ट रहेगा। ऐसा सम्भव नहीं कि भगवान् की सम्पत्ति का दुरुपयोग करने के साथ साथ आत्म-साक्षात्कार में प्रगति की जा सके।

क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽथ वा ।
ताडितः सन्निरुद्धो वा वृत्त्या वा परिहापितः ॥ ५८ ॥
निष्ठ्युतो मूत्रितो वाज्ञैर्बहुधैवं प्रकम्पितः ।
श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनात्मानमुद्धरेत् ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

क्षिप्तः—अपमानित; अवमानितः—उपेक्षित; असद्भिः—बुरे व्यक्तियों द्वारा; प्रलब्धः—उपहास किया गया; असूयितः—ईर्ष्या किया गया; अथ वा—या फिर; ताडितः—ताड़ना दिया गया; सन्निरुद्धः—बाँधा गया; वा—अथवा; वृत्त्या—अपनी जीविका-साधन का; वा—अथवा; परिहापितः—वंचित किया गया; निष्ठ्युतः—ऊपर थूका गया; मूत्रितः—पेशाब द्वारा दूषित किया गया; वा—अथवा; अज्ञैः—मूर्खों द्वारा; बहुधा—बारम्बार; एवम्—इस प्रकार; प्रकम्पितः—विक्षुब्ध किया गया; श्रेयः-कामः—जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य चाहने वाला; कृच्छ्र-गतः—कठिनाई का अनुभव करते हुए; आत्मना—अपनी बुद्धि से; आत्मानम्—अपने को; उद्धरेत्—बचाये।

जो व्यक्ति जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य को पाना चाहता है उसे बुरे लोगों द्वारा उपेक्षित होने, अपमानित किये जाने, उपहास या ईर्ष्या किये जाने पर या फिर अज्ञानी व्यक्तियों द्वारा बारम्बार मारे-पीटे जाने, बाँधे जाने या अपनी जीविका छीने जाने, अपने पर थूके जाने या अपने ऊपर पेशाब किए जाने जैसी कठिनाइयों के बावजूद, अपने आप को आध्यात्मिक पद पर सुरक्षित रखने के लिए, अपनी बुद्धि का प्रयोग करना चाहिए।

तात्पर्य : भगवान् के भक्तों को उपर्युक्त असुविधाओं का सारे इतिहास में सदा से अनुभव करना पड़ा है। किन्तु जो ईश-भावनामृत में आगे बढ़ा हुआ रहता है, वह ऐसी परिस्थितियों में भी भौतिक देह के प्रति शंका नहीं रखता, प्रत्युत अपनी सही बुद्धि से अपने मन को आध्यात्मिक पद पर स्थिर रखता है।

श्रीउद्धव उवाच ।
यथैवमनुबुध्येयं वद नो वदतां वर ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; यथा—कैसे; एवम्—इस प्रकार; अनुबुध्येयम्—मैं ठीक से समझूँ; वद—कृपा करके बतलायें; नः—हमसे; वदताम्—समस्त वक्ताओं में; वर—श्रेष्ठ।

श्री उद्धव ने कहा : हे श्रेष्ठ वक्ता, कृपा करके मुझे बतलायें कि मैं इसे किस तरह ठीक से

समझूँ ?

सुदुःषहमिमं मन्य आत्मन्यसदतिक्रमम् ।
विदुषामपि विश्वात्मन्प्रकृतिर्हि बलीयसी ।
ऋते त्वद्धर्मनिरतान्शान्तांस्ते चरणालयान् ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

सु-दुःसहम्—अत्यन्त असह्य; इमम्—इसे; मन्ये—मैं मानता हूँ; आत्मनि—अपने ऊपर; असत्—अज्ञानी पुरुषों द्वारा; अतिक्रमम्—आक्रमणों को; विदुषाम्—विद्वानों के लिए; अपि—भी; विश्व-आत्मन्—हे ब्रह्माण्डके आत्मा; प्रकृतिः—मनुष्य का बद्ध व्यक्तित्व; हि—निश्चय ही; बलीयसी—अत्यन्त प्रबल; ऋते—के अतिरिक्त; त्वत्-धर्म—आपकी भक्ति में; निरतान्—लगे हुए; शान्तान्—शान्त; ते—आपके; चरण-आलयान्—चरणकमलों पर निवास करने वाले।

हे विश्वात्मा, मनुष्य का भौतिक जीवन में बंधन अत्यन्त प्रबल है; अतः अज्ञानी पुरुषों द्वारा किये गये अपराधों को सह पाना बड़े बड़े विद्वानों के लिए भी अत्यन्त कठिन है। केवल आपके वे भक्त, जो आपकी प्रेमाभक्ति में निरत हैं और जिन्होंने आपके चरणकमलों में रहते हुए शान्ति प्राप्त कर ली है, वे ऐसे अपराधों को सह पाने में सक्षम हैं।

तात्पर्य : भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन में अग्रसर हुए बिना कोरे ज्ञान से कोई सन्त नहीं बन सकता। दीर्घकालीन भौतिक संगति के फलस्वरूप मनुष्य के बद्ध व्यक्तित्व को जीत पाना कठिन है। इसलिए हमें दीन भाव से उन भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए जिन्होंने श्री उद्धव को बड़े अद्भुत तरीके से ज्ञान का असली अर्थ बतलाया है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के "भौतिक सृष्टि के तत्त्वों की गणना" नामक बाईसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।